कृतज्ञताभिवन्दनम्

सन् उन्नीस सौ अठतीस ईस्वी के शीतकाल में विशाखपत्तनम् (आन्ध्रराष्ट्र) में सर्वप्रथम मेरे हृदय में एक ऐसी पुस्तक रचने की 'कामना' उठी। तदनुसार मैंने 'संकल्प' किया = खाका बनाया। परिणाम स्वरूप महर्षि दयानन्द के शब्दों में ही आर्यसमाज के दश नियमों की व्याख्या की। वह व्याख्या श्री सातवलेकर दामोदर जी द्वारा सम्पादित वैदिक धर्म मासिक पत्र में समग्ररूप से प्रकाशित हुई। उसके पश्चात् शायद १९४२ या १९४३ में 'आर्यसमाज क्या चाहता है ?' शीर्षक से एक लेख आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब द्वारा (उस समय लाहौर से) प्रकाशित आर्य के विशेषाङ्क में प्रकाशित कराया। उसमें सारूप से ऋषिदयानन्द सम्मत आर्यसिद्धान्तों का संग्रह कर दिया था। सब देवों ने उसकी अभिनन्दना की। 'आर्यभानु' (आ० प्र० नि० सभा हैदराबाद द्वारा प्रकाशित) ने उसको पुनः प्रकाशित किया।

फिर १९४८ के लगभग उसका संशोधन व संवर्धन करके 'आर्यन-मैनिफेस्टो' (आर्यसमाज परिचयम्) नाम से तेलगू भाषा में प्रगट किया, जिसका वहां की जनता ने स्वागत किया और प्रचार में यह ट्रैक्ट बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ।

इससे उत्साहित हो, मैंने इसका हिन्दी संस्करण निकालने का निश्चय किया और तीन वर्ष पूर्व 'आर्यनमैनिफेस्टो' (आर्यघोष) नाम से प्रकाशित किया। तेलगूभाषा संस्करण से यह कुछ बड़ा था। जिस ने देखा, मेरे प्रयत्न और संकल्प की सराहा। उस समय मैंने इसे अनेक आर्य विद्वानों, साधु संन्यासियों की सेवा में संशोधनार्थ भेजा और प्रार्थना की कि कृपया पदवाक्यशः इसका सुधार कर दीजिये। मेरा दुर्भाग्य था कि कुछ को छोड़ कर किसी ने इस पर ध्यान नहीं दिया।

यथेष्ठ सहानुभूति मिली, प्रशंसा भी मिली, पर जैसा मैं चाहता था, वैसा संशोधन न किया। श्रद्धेय श्री स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी, श्री पं० गोपदेव दार्शनिक, श्री सत्यप्रकाश एम. ए. और श्री नन्दलाल आर्य ने इस में मेरी पूरी-पूरी मदद की और बहुत से उत्तम सुझाव दिये। इससे मेरा विचार इसका बृहद् संस्करण निकालने का हुआ। तब मैंने एक बार फिर इसके पद पद और वाक्य वाक्य पर विचारविमर्श किया और इसका नाम रूप ही परिवर्तित करके इसका नाम 'आर्यसिद्धान्त-दीप' रखा। इसी बीच मुझे आर्यसंस्कृति के प्रचारार्थ ब्रह्म देश जाना पड़ा। वहां रंगून में श्रावणी पर्व (अगस्त १९३३) के समय मैंने प्राचीन पद्धति से यज्ञोपवीत संस्कार समारोह की आयोजना की। उस अवसर पर दीक्षितों को भिक्षा में जो दो सौ तैंतीस रुपये मिले, उन्होंने आचार्य होने के नाते मुझे दे दिये। मैंने वह द्रव्य रंगून समाज को साहित्यप्रकाशन के निमित्त दे दिया।

उसी समय मेरे एक मित्र श्री दिल्लीराम जी स्पोर्टस् वालों ने १००) तक की सहायता का वायदा इसके प्रकाशन के निमित्त किया। मेरा उत्साह बढ़ गया। मैंने उसी समय अपनी संशोधित प्रति को हाथ से लिखवाकर माइक्लोस्टाइल पर मुद्रित करवाया। श्री ओम्प्रकाश जी सुपुत्र श्री रामजीमल जी रंगून ने जिस श्रद्धा परिश्रम और लगन से इसे इतनी सुन्दरता से लिखा, लेखक इनका सदा आभारी रहेगा। केवल २५० प्रतियाँ बनवाईं जिसका व्यय रंगून समाज ने किया। विचार किया कि इसका एक बार और संशोधन हो जावे, ताकि इसकी प्रामाणिकता सुदृढ़ हो जावे।

पुनः विद्वानों की सेवा में भेजा। इस बार कुछ अधिक `वों ने पर और आशीर्वाद दिया। यों भेजी तो अनेक को थी, पर निम्न विद्वानों ने इसे न केवल आद्योपान्त पढ़ा, बल्कि इसका अक्षरशः पदशः वाक्यशः संशोधन किया, नये-नये सुझाव दिये।

१—श्री स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी
२—श्री स्वामी आत्मानन्द जी
३—श्री स्वामी वेदानन्द जी तीर्थ
४—श्री मतानन्द संन्यासी
५—श्री पं० उदयवीर शास्त्री दर्शनाचार्य
६—श्री पं० हरिदत्त शास्त्री नवतीर्थ एम. ए'
७—श्री आचार्य गंगाप्रसाद उपाध्याय एम. ए.
८—श्री पं० गोपदेव (आन्ध्रदेश)
६—श्री आचार्य विद्यानन्द विदेह
१०—श्री पं० जगदेवसिंह शास्त्री सिद्धान्ती
११—श्री पं० शंकरदेव जी (गु० कु० चित्तौड़)
१२—श्री सुधीरकुमार गुप्त एम. ए. शास्त्री एल. एल. बी.
१३—श्री सत्यप्रकाश एम. ए. (गुरुदासपुर)
१४—श्री पं० दीनानाथ जी शास्त्री (सनातनधर्म विद्वान्)
१५—श्री प्रो० रुलियाराम जी एम. एस. सी.
१६—श्री नन्दलाल आर्य (लुधियाना)
१७ श्री पं० मनोहर विद्यालंकार

यद्यपि इन सभी महानुभावों ने इसका पूर्णतः संशोधन किया है, तथापि श्री पं० गोपदेव जी, श्री पं० जगदेव जी सिद्धान्ती और श्री सत्यप्रकाश जी एम. ए. ने जो सहायता की है, उसको मैं शब्दों में व्यक्त नहीं कर सकता। श्री पं० जगदेवसिंह जी शास्त्री ने न केवल संशोधन किया, बल्कि प्रकाशित करने पर जोर दिया और १००) तक की पुस्तकें लेने का वचन दिया। ऐसे ऋषिभक्त पण्डित का ऋण कैसे चुकाऊं, कह नहीं सकता?

सब के संशोधन उपयोगी थे। मैंने सबसे भरपूर लाभ उठाया और भाषा, भाव, शैली तीनों का संस्करण किया। पुनः सब को महर्षि-

दयानन्द के ग्रन्थों से मिलाया। यह कहने में संकोच नहीं कि इसमें आर्योद्देश्यरत्नमाला व स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश दोनों पूर्णत. समाविष्ट हैं। उसी आलोक में मैं यह काम कर सका हूँ।

इसी बीच आर्यजगत् के प्रसिद्ध आर्यसाहित्य पुस्तक विक्रेता श्री गोविन्दराम हासानन्द जी से देहली में भेंट हुई और उन्होंने इसे प्रकाशित करना स्वीकार कर लिया। आर्य समाज गुरदासपुर (गु० कु० विभाग) के मंत्री श्री गुप्ता जी ने 100) को पुस्तकें खरीदने का वचन दिया। श्री मनोहर विद्यालंकार भाई ने कागजों का सब प्रबन्ध कर दिया। इस प्रकार इन सब महानुभावों की कृपा से अब यह ग्रन्थ पुनः प्रकाशित हो रहा है। इन सबको अभिनन्दन है, यद्यपि इन्होंने सहायता ऋण करके नहीं दी, पर ऋण तो उतारना ही है।

आर्य समाज द्वारा प्रसारित वेदप्रतिपादित मानवाभ्युदय-नि श्रेयसकारी सिद्धान्तों के प्रचार में न आने का कारण उत्तम साहित्य का अभाव है। आर्य नेताओं का इस ओर बहुत कम ध्यान है। जहां तक मेरा ज्ञान है, महर्षि दयानन्द द्वारा आविष्कृत लोकोपकारक दार्शनिक सिद्धान्तों का संक्षिप्त पर पूर्ण परिचय कराने वाली कोई भी पुस्तक नहीं है। मैं लगभग पन्द्रह वर्ष से प्रचार क्षेत्र में हूँ। बहुत सिरखपाई की है; पर लाभ कम हुआ। तब इस मार्ग को पकड़ा। इसको बनाने का यही प्रयोजन है कि संक्षेप में एक स्थान पर सब आर्य सिद्धान्तों का परिचय इसके द्वारा सबको हो जावे।

मेरा विचार तो इसे चार रूपों में छापने का है—

1. लघु (या बाल) आर्यसिद्धान्त-दीप ४८ पृष्ठ आर्य सन्तानों लिये।

२. आर्यसिद्धान्त-दीप १४० पृष्ठों तक उच्च परीक्षाओं के लिए।

३. (बृहद्) आर्य सिद्धान्त दीप ४०० से ५५० पृष्ठों तक की,

सिद्धान्तशास्त्री, वेदालंकार, वेदशिरोमणि आदि परीक्षाओं व उपदेशकों के लिये।

४. आर्यसिद्धान्त दीप २०० पृष्ठों तक (अनुकूल संशोधन करके) सामान्य जन को देने के लिये।

फिर मैं इसका अंग्रेजी व भारत की भिन्न-भिन्न भाषाओं में अनुवाद करवाना चाहता हूँ, ताकि सर्वत्र एक ही नामरूप में ऋषि के सिद्धान्तों का प्रचार हो।

यह सभी सम्भव हो सकता है जब कि सब आर्य विद्वान् इसमें मेरी सहायता करें। इसी अभिप्राय से पुनः एक बार आप सब आर्य विद्वानों की सेवा में यह पुस्तक भेज रहा हूँ।

मेरी प्रार्थना है कि—

(१) अपने ज्ञानवर्धन के निमित्त ही न पढ़ कर, आप इसे अधिक प्रामाणिक बनाने में सहायता देने के लिए भी ध्यान से पढ़िये।

(२) यदि इसमें सिद्धान्त सम्बन्धी कोई विषय छूट गया हो, तो जहाँ आप उसका समावेश चाहते हों, वहां चिन्ह करके उसको इसी शैली में संक्षेप से निर्दिष्ट कर दीजिये।

(३) छिखे में जहाँ गलती हो, उसे संशोधित कर दीजिये।

(४) यदि कुछ परिवर्धन करना चाहें, तो चिन्ह करके वैसा वहाँ कर दीजिये।

(५) सिद्धान्त प्रतिपादन में यदि कहीं आपको कोई नई युक्ति या नवीन बात सूझती हो, तो आप उसको वहां जोड़ दीजिये।

(६) यदि आपकी सम्मति में कुछ मैटर निकाल दिया जाना चाहिये, तो कारण लिख दीजिये।

(७) कृपया शीघ्रातिशीघ्र अपनी संशोधित कापी श्रीमती सार्वदेशिक सभा श्रद्धानन्द बाज़ार, देहली ६ के कार्यालय में भिजवा दीजिये ।

(८) आप सब विद्वानों के निर्देश आ जाने पर उसी दिव्यालोक में पुनः इसका संस्करण कर दिया जावेगा ।

(९) धनीमानी व्यक्तियों व प्रान्तीय सभा समाज के अधिकारियों से प्रार्थना है कि वे प्रचारार्थ इसे मुद्रित करने कराने के विषय में मुझ से पत्र व्यवहार करें ।

(१०) मेरे सामने इसके तीन नाम हैं । 'आर्यसिद्धान्त-दीप', 'आर्यसिद्धान्त-कौमुदी' अथवा 'आर्यसिद्धान्त-रत्नावलि या मणि-माला ।' आप इनमें से कौनसा नाम चाहते हैं ? नया नाम भी सुझा सकते हैं ?

(११) जिस भी पाठक के हाथ में यह पुस्तक जावे, उस से भी मेरी यही प्रार्थना है ।

संशोधन पुस्तक पर कर दें । फिर उसी संशोधित प्रति को मुझे वापिस भेज दें । उसके स्थान पर नयी पुस्तक भेज दी जावेगी । यदि संशोधन न हों तो पुस्तक वापिस न भेजें ।

(१२) कृपया अपनी सम्मति अवश्य भेजें दें ।

❀ ❀ ❀

पुस्तक की सुन्दर छपाई के लिए सम्राट् प्रेस (पहाड़ी धीरज) देहली के स्वामी शास्त्रिचतुष्टय का धन्यवाद ।

विस्मृति के गर्भ में प्रसुप्त सहायकों को भी धन्यवाद ।

मदनमोहन विद्यासागर ।

विषय-प्रवेश

आर्यसमाज को स्थापित हुए लगभग एक शताब्दी होने वाली है। भारतवर्ष में इसका रूप विशाल वटवृक्ष जैसा हो गया है। उत्तरीय भारत की जनता के सर्वविध जीवन पर इसके सिद्धान्तों, कार्यों व इसकी सेवा का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। अन्य भारतीय प्रान्तों में व विश्व के अन्य देशों में भी इसके 'पंचजन्य शंख' का जयनाद गूंजने लग गया है।

जो कार्यक्रम आर्यसमाज के नाम से इस समय चलाया जा रहा है, वह महर्षि दयानन्द सरस्वती का मनोऽभिप्राय तो अवश्य है; पर पूरा नहीं। बहुत सारा ऐसा कार्य पड़ा है, जिसकी ओर अभी तक आर्य नेताओं का ध्यान ही नहीं गया। सिक्के के एक तरफ ही अभी तक देखा गया प्रतीत होता है।

भारतवर्ष की जागृति की मूलकारक संस्था यही है। बहुत प्राचीन है, शुद्ध मानवधर्म की प्रचारक है, तो भी इसके विषय में नाना प्रकार के भिन्न-भिन्न अभिप्राय लोक में प्रसिद्ध हैं। कोई इसे 'मुस्लिम' विरोधी' संस्था समझता है; कोई इसे भी 'कम्यूनल' (साम्प्रदायिक) कहते हैं। कइयों के घर में यह राजनीति-शून्य एक 'सन्ध्याहवन' सिखाने वाली संस्था है। दक्षिण भारत के मालावार प्रांत

में 'आर्यसमाज' एक सैठ के रूप में बहुत समय तक प्रसिद्ध रही, क्योंकि इसने लाखों रुपया उधर प्रचारार्थ भेजा था। कइयों की दृष्टि में यह हिन्दुजाति का ही एक सम्प्रदाय या शाखा है, जिसने उन्नीसवीं शती में इसके सुधार का कार्य प्रारम्भ किया और अब भी यही उसका रक्षक है। ··· इसे कई बुद्धिमान् केवल समाजसुधारक संस्था समझते हैं। इस ग्रन्थ के पढ़ने से आर्यसमाज का सच्चा रूप सामने आ जावेगा।

मेरे हृदय में चिरकाल से यह इच्छा थी कि अत्यन्त सरल एवं सुबोध शैली में एक ऐसा ग्रन्थ 'जनेभ्यः' रचा जावे, जिसमें महर्षि दयानन्द द्वारा जन कल्याण के निमित्त प्रतिपादित सिद्धान्तों का पूर्णतः विवेचनात्मक दार्शनिक दिग्दर्शन कराया गया हो तथा जो आर्यसमाज द्वारा सम्मत हो।

आज विश्वविद्यालयों में मनु, याज्ञवल्क्य आदि पूर्व ऋषियों, सुकरात, अरस्तू और इसी प्रकार अन्य विद्वानों, शंकर, रामानुज, मध्व आदि आचार्यों व काण्ट, बर्गसन, शौपनहार, अरविन्द आदि नूतन विद्वानों के मत व सिद्धान्त पढ़ाये-लिखाये जाते हैं। यहाँ तक कि महात्मा गाँधी जी के यत्र तत्र बिखरे विचारों को भी एक सूत्र में पिरोकर उन्हें दार्शनिक रंग-रूप देने का प्रयत्न किया जा रहा है (यद्यपि वे न दार्शनिक थे और न तार्किक ही।) परन्तु वर्तमान युग के सबसे बड़े दार्शनिक, विचारक एवं तार्किक ऋषि दयानन्द की सर्वतः पूर्ण दार्शनिक विचारधारा की ओर बहुत कम जनों का ध्यान गया है। इस लिये भी मेरे मन में यह विचार था कि मैं इस ऋषि की कल्याणी

भावों को—जिससे नया युग बना—इस प्रकार पिरोकर ग्रथित कर दूँ कि वह सुबोध हो जावे और मानव-जाति उससे लाभ उठा सके।

यह कार्य कठिन था; क्योंकि किन्हीं भी सिद्धान्तों के दार्शनिक निरूपण में पदों की छानबीन आसान नहीं होती। भारतीय-दर्शन में सूत्रों द्वारा संक्षिप्त पदावलि में विस्तृत सिद्धान्तों की स्थापना की गई है। आर्य वाङ्मय में पदों के शुद्ध प्रयोग का विशेष महत्व है; क्योंकि प्रत्येक पद अपने में 'विशेष अर्थ' रखता है और प्रयोग किये जाने पर प्रसंगतः अनेक अर्थों का संकेत करता है।

दूसरे ऋषि दयानन्द ने वेदमत स्थापन और परमतालोचन में जहाँ एक ओर वेदों का आश्रय लिया, वहाँ अपनी अद्भुत योगनिष्णातमति और तर्क-प्रतिष्ठित सूक्ष्म विवेचन प्रतिभा का भी चामत्कारिक प्रयोग किया है। उनके ग्रंथों को जितना पढ़ा जावे, उतनी ही सरस नवीनता पाई जाती है। मोती पाने के लिये गहरे उतरने की शक्ति चाहिये।

पर मैं अपने को इस कार्य के अयोग्य और असमर्थ समझता हूँ। किसी के सिद्धान्तों की विस्तृत व्याख्या उतनी कठिन नहीं होती, जितना कि संक्षिप्त सारगर्भित निदर्शन होता है; क्योंकि इसके लिये विशेष दार्शनिक प्रतिभा चाहिये। परन्तु चूहे के गणेश जी को उठाने के समान, इस कार्य को अपने सिर ले लिया। यह तो पंखविहीन पक्षी की आकाश यात्रा सा है।

प्रेस में देने से पहिले इसे न जाने कितनी बार सुधारा, कितनों को दिखाया? अब इसे दूसरी बार प्रेस में देते समय भी इसका कई बार संशोधन किया गया है।

में 'आर्यसमाज' एक सेठ के रूप में बहुत समय तक प्रसिद्ध रही, क्योंकि इसने लाखों रुपया उधर प्रचारार्थ भेजा था। कइयों की दृष्टि में यह हिन्दुजाति का ही एक सम्प्रदाय या शाखा है, जिसने उन्नीसवीं शती में इसके सुधार का कार्य प्रारम्भ किया और अब भी यही उसका रक्षक है। ··· इसे कई बुद्धिमान् केवल समाजसुधारक संस्था समझते हैं। इस ग्रन्थ के पढ़ने से आर्यसमाज का सच्चा रूप सामने आ जावेगा।

मेरे हृदय में चिरकाल से यह इच्छा थी कि अत्यन्त सरल एवं सुबोध शैली में एक ऐसा ग्रन्थ 'जनेभ्यः' रचा जावे, जिसमें महर्षि दयानन्द द्वारा जन कल्याण के निमित्त प्रतिपादित सिद्धान्तों का पूर्णतः विवेचनात्मक दार्शनिक दिग्दर्शन कराया गया हो तथा जो आर्यसमाज द्वारा सम्मत हो।

आज विश्वविद्यालयों में मनु, याज्ञवल्क्य आदि पूर्व ऋषियों, सुकरात, अरस्तू और इसी प्रकार अन्य विद्वानों, शंकर, रामानुज, मध्व आदि आचार्यों व कांट, बर्गसन, शोपनहार, अरविन्द आदि नूतन विद्वानों के मत व सिद्धान्त पढ़ाये लिखाये जाते हैं। यहाँ तक कि महात्मा गाँधी जी के यत्र तत्र बिखरे विचारों को भी एक सूत्र में पिरोकर उन्हें दार्शनिक रंग-रूप देने का प्रयत्न किया जा रहा है (यद्यपि वे न दार्शनिक थे और न तार्किक ही।) परन्तु वर्तमान युग के सबसे बड़े दार्शनिक, विचारक एवं तार्किक ऋषि दयानन्द की सर्वतः पूर्ण दार्शनिक विचारधारा की ओर बहुत कम जनों का ध्यान गया है। इस लिए भी मेरे मन में यह विचार था कि मैं इस ऋषि की कल्याणी

धाराओं को—जिससे नया युग बना—इस प्रकार पिरोकर ग्रथित कर दूँ कि वह सुबोध हो जावे और मानव-जाति उससे लाभ उठा सके।

यह कार्य कठिन था, क्योंकि किन्हीं भी सिद्धान्तों के दार्शनिक निरूपण में पदों की छानबीन आसान नहीं होती। भारतीय-दर्शन में सूत्रों द्वारा संक्षिप्त पदावलि में विस्तृत सिद्धान्तों की स्थापना की गई है। आर्ष वाङ्मय में पदों के शुद्ध प्रयोग का विशेष महत्व है, क्योंकि प्रत्येक पद अपने में 'विशेष अर्थ' रखता है और प्रयोग किये जाने पर प्रसंगतः अनेक अर्थों का संकेत करता है।

दूसरे ऋषि दयानन्द ने वेदमत स्थापन और परमतालोचन में जहाँ एक ओर वेदों का आश्रय लिया, वहाँ अपनी अद्भुत योगनिष्णातमति और तर्क प्रतिष्ठित सूक्ष्म विवेचन प्रतिभा का भी चामत्कारिक प्रयोग किया है। उनके ग्रंथों को जितना पढ़ा जावे, उतनी ही सरस नवीनता पाई जाती है। मोती पाने के लिये गहरे उतरने की शक्ति चाहिये।

पर मैं अपने को इस कार्य के अयोग्य और असमर्थ समझता हूँ। किसी के सिद्धान्तों की विस्तृत व्याख्या उतनी कठिन नहीं होती, जितना कि संक्षिप्त सारगर्भित निदर्शन होता है; क्योंकि इसके लिये विशेष दार्शनिक प्रतिभा चाहिये। परन्तु चूहे के गणेश जी को उठाने के समान, इस कार्य को अपने सिर ले लिया। यह तो पंखविहीन पक्षी की आकाश यात्रा सा है।

प्रेस में देने से पहिले इसे न जाने कितनी बार सुधारा, कितनों को दिखाया? अब इसे दूसरी बार प्रेस में देते समय भी इसका कई बार संशोधन किया गया है।

अनेक विद्वानों ने अनेक बातें सुझाईं; मैंने उन सब का यथाशक्ति उपयोग किया है। इन्हीं के आशीर्वाद और सहायता के पुण्य-प्रताप से यह कार्य सम्पन्न हो सका है। इन सब का आभार मानता हूँ।

इस पुस्तक में जो 'जीवन का उद्देश्य' 'मनुर्भव' तथा 'आर्य-सिद्धान्त' शीर्षकों के नीचे लिखा गया है, उसमें नब्बे प्रतिशत ऋषि दयानन्द का लिखा हुआ है। मैंने उनके ग्रंथों से ही वाक्यों और पदों को इकट्ठा करके क्रमबद्ध रूप में लिख दिया है।

मैंने इस बात का पूर्ण प्रयत्न किया है कि आर्य सिद्धान्त सम्बन्धी कोई विषय छूट न जावे। इस लिये इस पुस्तक में बहुत सारे विषय ऐसे आ गये हैं, जो अब तक इस प्रकार के ग्रंथों में नहीं आये हैं। तथा कई विषय (सिद्धान्त नहीं) जो वैसी अन्य पुस्तकों में हैं, इसमें नहीं हैं। इसका कारण यह है कि वे आर्यसमाज के कार्य से सम्बन्ध रखते हैं, जो इस पुस्तक के क्षेत्र से बाहर का विषय है। ऐसा करने का प्रयोजन यही है कि इससे आर्यसमाज का यथार्थ विशाल सार्वभौमिक रूप सब के सामने आ जावे और उसके सिद्धान्तों के विषय में फैले भ्रम मिट जायें, ताकि अविद्या असम्भूति या विनाश के अन्धकारमय गड्ढे में गिरने से मनुष्य-जाति बच जावे।

मैं यह निश्चयपूर्वक कह सकता हूँ कि इस ग्रन्थ के पाठ से जीवन के एक ऐसे स्वयं पूर्ण दर्शन का परिचय होगा, जिस में मानव-जीवन के सब पहलुओं पर प्रकाश पड़ता है। यही ऋषि दयानन्द के दर्शन

की विशेषता है। उसने इहलोक और परलोक दोनों का ऐसा समन्वय किया है, जिससे जीवन में उत्साह और स्फूर्ति मिलते हैं।

परन्तु यह निरीश्वरवादी या नास्तिक को ईश्वरवादी या आस्तिक बनाने का प्रयत्न नहीं है। जिस तपोधन परमयोगी के सिद्धान्त मैंने लिखे हैं, उसका प्रयत्न यही था। मैंने तो उस महाप्राण ऋषि के सभी सिद्धान्तों व आवश्यक अनुबन्धों को दार्शनिक ढंग से एकत्र करने का अल्प प्रयत्न किया है। जो सिद्धान्त लिखा है, उसका साधक हेतु दे दिया है। यद्यपि उसके बाधक हेतुओं का पृथक् खण्डन नहीं किया, तथापि सभी विरोधी तर्कों और मतों का स्वतः ही इस में खण्डन हो गया है।

क्योंकि मैं स्वयं इन सब सिद्धान्तों को मानता हूँ और उन पर यथाशक्ति आचरण करता हूँ; इसलिये मेरा यह दृढ़ मत है कि जीवन में पूर्णता प्राप्त करने के लिए इन सिद्धान्तों का जानना प्रत्येक मनुष्य के लिये आवश्यक है, अनिवार्य है। इस को पढ़ने से पता चलेगा कि वेद प्रतिपादित आर्यमत क्यों अन्य मतमतान्तरों से उत्कृष्ट है? और क्यों आर्यसमाज विश्व के अन्य सम्प्रदायों से जगत् का अधिक उपकारी है? और ऋषि दयानन्द ने कितना महान् उपकार संसार का किया?

अब तक के निरन्तर-स्वाध्याय और विद्वानों के संग से अपनी बुद्धि के अनुसार जैसा मैं महर्षि दयानन्द सरस्वती के 'सम्पूर्ण अभिप्राय' को समझ सका हूँ, वैसा सत्यजिज्ञासु सज्जनों के सामने रखता हूँ। मेरी यह अभिलाषा है कि सब देशों के विद्वान्-पुरुष और शासक

प्रमुख नेता इस पर पक्षपात रहित होकर विचारें और इसके आधार पर अपने-अपने देशों में ऐसी शासन-व्यवस्था की आयोजना करें, जिससे—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत् ॥

"सब सुखी और नीरोग रहें। सबका मङ्गल हो, किसी को दुःख न लगे।"

शं द्विपदे, शं चतुष्पदे ॥

"दोपाये-चौपाये सब का कल्याण हो।"

शुक्रवार,
दीपावलि, २०१०
रंगून, ब्रह्मदेश

मदनमोहन विद्यासागर
६-११-५३

प्रथम अध्याय

आर्यसमाज की स्थापना और उद्देश्य

आर्यसमाज की स्थापना सन् १८७५ ईसवी में सर्वप्रथम मुम्बई नगर में हुई। इसके संस्थापक महर्षि दयानन्द सरस्वती वर्तमान युग के सबसे प्रथम मानववाद के प्रचारक हुये हैं। मानव जीवन के सब पहलू 'भौतिक व अध्यात्म' इन दो वादों के अन्तर्गत आ जाते हैं। कार्लमार्क्स आदि भौतिकवादियों की दृष्टि में "अन्नवस्त्रनिवासरक्षणशिक्षण" का प्रबन्ध कर देने मात्र से 'जनकल्याण' हो जाता है, शेष सब निरर्थक है। श्री शंकरादि अध्यात्मवादियों की दृष्टि में ये सब तो 'मिथ्यामात्र' हैं, 'ब्रह्मरस' पीने मात्र से ही 'जनकल्याण' हो सकता है। आदर्शवादी देश-कालज्ञ महर्षि दयानन्द सरस्वती इन दोनों के सन्तुलित समन्वय से ही 'जनकल्याण' अर्थात् विश्व में सच्ची शान्ति और सुखकारी व्यवस्था की योजना व स्थापना करना चाहते थे। यह उनका स्वतन्त्र मौलिक सिद्धान्त है। ये दो वाद सदा से दुनिया में चलते आये हैं। समय-समय पर इनमें समन्वय टूट जाता है और तब कोई एक पक्ष पर चलना चाहता है, जिससे मानव जाति का एकांगी विकास ही होता है और मानव जाति में अव्यवस्था, अशान्ति, उच्छृङ्खलता और असन्तोष व्याप्त हो जाते हैं।

महर्षि कालदा (महाभारत) अर्थात् परिस्थिति-समयानुसार ठीक कार्य करने वाले महामानव थे, आदर्श-यथार्थ दोनों के ज्ञाता थे। इसलिये उन्होंने जिस दर्शन की स्थापना की, वह सर्वाङ्गीण है। स्वयंपूर्ण जीवनदर्शन है। इसमें 'भौतिकवाद व अभौतिकवाद' (अविद्या व विद्या'='प्रकृतिवाद व अध्यात्मवाद' = जड़वाद व चेतनवाद) दोनों को उचित स्थान है। यह निरा नीरस दार्शनिक अध्यात्म नहीं और आपातरम्य पर्यन्तपरितापी 'ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्' सिद्धान्त नहीं। इस प्रकार 'मनुष्य' को सब दृष्टियों से

समुन्नत करके उसका अभ्युदय और निःश्रेयस करने वाले मानव-धर्म के प्रचार के निमित्त महर्षि दयानन्द ने उत्तम वैश्वानर (विश्वनागरिक) सैनिकों का एक संगठन बनाया, जो आर्यसमाज नाम से जगत में प्रसिद्ध है।

इस दिव्य दृष्टि की उपलब्धि उन्हें तपःस्वाध्याय करने के पश्चात् वेदों द्वारा मिली। इसलिये उन्होंने इसके आधार पर मानवधर्म और मानव संस्कृति का प्रचार प्रारम्भ किया। इसी का दूसरा नाम ऋषि-मार्ग या आर्य-धर्म है। इसी सतां मार्ग को महाभारतकार ने आर्षविधि, श्रुतिपथ व श्रौतपन्था नाम दिया है।

महर्षि का 'वैदिक धर्म' व 'आर्य संस्कृति' में अटल विश्वास था। उनकी इच्छा थी कि संसार में पुनः वेदप्रतिपादित मानव-धर्म का प्रचार हो। " इसके लिये उन्होंने अनेक कष्ट उठाये, प्रतिफल में उन्हें नौ बार विषदान भी दिया गया और एक दिन पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा से ऊपर उठा महर्षि अमावस्या की अन्धेरी रात में चुपचाप महाप्रयाण कर गया। संसार सूर्य के डूब जाने से अन्धकारावृत था और जनहृदय इस दिव्य प्रतिभाशाली सूर्य के दिवंगत हो जाने से शोकपूर्ण था।

महर्षि की मृत्यु के उपरान्त आर्यसमाज ने ऋषि के मार्ग का अनुसरण कर वेदप्रतिपादित उन पवित्र सिद्धान्तों का जनता में प्रचार किया, जिनको संसार भूल चुका था और सब मत-मतान्तर जिनके विकृत अवशेष हैं। इस समय भारतवर्ष तथा अन्यत्र आर्यसमाजों की संख्या चार हजार तक पहुंच चुकी है। भारतवर्ष से बाहर अफ्रीका, फिजी, मोरिशस, अरब, फारस, अफगानिस्तान, पाकिस्तान, बलोचिस्तान, मेसोपटामियां, असीरिया, जर्मनी, इंग्लैण्ड, ब्रिटिशगायना अमेरिका, सिंगापुर, ब्रह्मदेश, स्याम, अनाम, कम्बोडिया, हांगकांग, चीन और मेडेगास्कर आदि नाना देशों में भी आर्यसमाज स्थापित हैं।

द्वितीय अध्याय

जीवन का प्रयोजन

इस चर-अचर जगत् में समस्त जीवधारी प्राणियों के आवागमन का उद्देश्य अपने शुभाशुभ कर्मों के सुख-दुःखात्मक फलों का भोग है।

मानव जीवन का उद्देश्य

मानव-जीवन का उद्देश्य धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, इन चार पुरुषार्थों (चतुर्वर्ग) की प्राप्ति करके आनन्द भोगना है। महर्षि दयानन्द ने मनुष्य जाति के सम्मुख मानव-जीवन के इस वास्तविक उद्देश्य को रखकर संसार का महान् उपकार किया है।

यदि मनुष्य इनकी प्राप्ति के लिए उद्योग नहीं करेगा, तो उसे अधर्म, अनर्थ, द्वेष-कलह और बन्ध प्राप्त होके दुःख भोगना पड़ेगा।

जीवन के वास्तविक उद्देश्य के सत्यज्ञान का लाभ यह है— पहला—मनुष्य प्राणिमात्र पर दयाभाव और समदृष्टि रखेगा, और दूसरा— यह कि वह मनुष्य-जन्म के इन चार फलों के स्वरूप को यथावत् जानकर अपने जीवन को पवित्र सफल बना सकेगा।

पुरुषार्थ-चतुष्टय के साधन

ब्रह्मचर्य को प्राप्त होकर उसका लोप न करके सब प्रकार के रोगों से रहित होना; अत्यन्त दुःख देने और कुल को भ्रष्ट करने वाले व्यभिचार कर्म से सदा दूर रहना; अग्निहोत्रादि यज्ञों से वायु,

वृष्टि, जल की शुद्धि द्वारा आरोग्य प्राप्त करना, जिनसे शरीर और आत्मा सुसंस्कृत हों, ऐसे संस्कारों का करना, जपोपासनादि कर्मों का करना; परमात्मा, उसकी आज्ञा और उसके रचे जगत् का यथार्थ ज्ञान, सत्यासत्य का निर्णय करके सत्य का ग्रहण, असत्य का परित्याग करना, उत्तम उपदेशक और सत्पुरुषों के सत्योपदेश द्वारा अन्धपरम्परा के नाश से ज्ञान प्राप्त करके आत्मा की उन्नति करना, और मूर्ति पूजा तथा मिथ्या प्रपचादि बुराइयों को छोड सुन्दर ईश्वरोक्त वेद विहित सुपथ में आकर मनुष्य जीवन को सफल कर प्रयत्नपूर्वक तन, मन, धन और आत्मा द्वारा ईश्वर के साहाय्य से धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूप फल-चतुष्टय की सिद्धि होती है। इससे मनुष्य स्वय आनन्द में रहकर सब को आनन्द में रखता है।

मनुष्यों को चाहिये कि निष्फल क्रियाओं को कभी न करें। जिस-जिस क्रिया से धर्म, अर्थ काम और मोक्ष की सिद्धि हो, उस-उस को प्रयत्न से करें।

जो मनुष्य अच्छी शिक्षा से युक्त, अच्छे प्रकार से परीक्षित शुभलक्षणयुक्त सम्पूर्ण विद्याओं का वेत्ता त्यागी जितेन्द्रिय, पुरुषार्थी, धार्मिक, ज्ञानी, सत्पुरुषों का सगी, योगी सुशील विद्वान् है, वही धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को प्राप्त होकर प्रजा के दु ख का निवारण कर सकता है और इस जन्म और परजन्म में सदा परम आनन्द में रहता है।

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पदार्थों की प्राप्ति के लिये ब्रह्मचर्य गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास इन चार आश्रमों का सेवन करना सब मनुष्यों को उचित है।

पक्षपात से ही नित्य अधर्म होता है अधर्म द्वारा अर्थ को

सिद्ध करना अनर्थ होता है, अधर्म और अनर्थ से काम को सिद्ध करना कुकाम कहाता है। अधर्म, अनर्थ और कुकाम का परिणाम बन्ध होता है। इसलिये इन तीनों अर्थात् धर्म, अर्थ और काम से मोक्ष को सिद्ध करना उचित है। धर्मादि ही मुक्ति के साधन हैं और कोई नहीं, मुक्ति सत्यपुरुषार्थ से ही सिद्ध होती है, अन्यथा नहीं।

जब वेदों का सत्य अर्थ सब को विदित होगा, तब असत्य व्यवहार को छोड के सत्य का ग्रहण और सत्य में ही प्रवृत्त होने से मनुष्यों को सुख की प्राप्ति अवश्य होगी। इस प्रकार जो मनुष्य आचरण करेंगे उनको सत्य धर्म, सत्य अर्थ, सत्य काम और नित्य-सुखरूप जो मोक्ष है, इन चारों पदार्थों की सिद्धि यथावत प्राप्त होगी, इस में कुछ सन्देह नहीं।

✓आर्य सन्देश

मनुर्भव

"मनुष्य"—उसी को कहना जो कि मननशील हो, विना विचारे किसी काम को न करे, स्वात्मवत् अन्यों के सुख-दुःख, हानि-लाभ को समझे, सब से यथायोग्य वर्ते, अन्यायकारी अधर्मी चाहे शासक, सनाथ, महाबलवान् गुणवान् भी क्यों न हो उससे भी न डरे और उससे अप्रियाचरण, उसके बल की हानि-अवनति, उसका नाश सदा किया करे। न्यायकारी धर्मात्मा चाहे कितना निर्बल महा अनाथ गुणरहित (साधन शून्य) भी हो, उससे डरता रहे और उससे प्रियाचरण, उसकी सर्व सामर्थ्य से रक्षा, बल की उन्नति सदा किया करे। ऐसा करते हुए चाहे दारुण दुःख प्राप्त हो, चाहे प्राण भी भले ही जावें, परन्तु इस मनुष्यपन रूप धर्म से पृथक् कभी न होवे।

जो बलवान् होकर निर्बलों की रक्षा करता है वही मनुष्य कहाता है। मनुष्य शरीर पाकर निर्बलों को दुःख देना और स्वार्थवश होकर परहानि-मात्र करना मनुष्य स्वभावयुक्त नहीं, किन्तु पशुवत् है।

सज्जन मनुष्यों की यही रीति है, कि अपने व पराये दोषों को दोष और गुणों को गुण जानकर, दोषों का त्याग और गुणों का ग्रहण करें करावें। हठियों का हठ दुराग्रह न्यून करें करावें। क्योंकि जो मिथ्या बात न रोकी जावे तो संसार मे बहुत-से अनर्थ प्रवृत्त हो जावें।

इस अनिश्चित क्षणभंगुर जीवन में पराई हानि करके लाभ से स्वयं रिक्त रहना और अन्यों को रखना, अधर्मयुक्त चालचलन का स्वीकार और धर्मयुक्त मत का त्याग मनुष्यधर्म से बहिः है। पक्षपाती होकर असत्य को भी सत्य कहना, दोषयुक्त भी स्वमत की स्तुति व प्रचार करना तथा गुणयुक्त भी दूसरे मत की निन्दा, हानि व उसको असत्य सिद्ध करने में प्रवृत्त हो उसे बन्द करने में तत्पर रहना, मनुष्यों को बहकाकर बुद्धि विरुद्ध कराके एक-दूसरे को शत्रु बना लड़ा मारना, मनुष्य के स्वभाव से बहिः है।

मनुष्यों को न्यायदृष्टि से वर्तना अति उचित है। जो सत्य है, उसको सत्य और जो मिथ्या है उसको मिथ्या ही प्रतिपादन करना सत्य अर्थ का प्रकाश करना है। वह सत्य नहीं कहाता, जो सत्य के स्थान में असत्य और असत्य के स्थान में सत्य का प्रकाश किया जाय। किन्तु जो पदार्थ जैसा है, उसको वैसा ही कहना, लिखना और मानना सत्य कहाता है।

मनुष्य-जन्म का होना सत्यासत्य निर्णय करने-कराने के लिये

है, न कि वाद-विवाद विरोध करने-कराने के लिये। निष्पक्ष व निःस्वार्थ होकर सत्यासत्य, कर्त्तव्याकर्त्तव्य, धर्माधर्म और शुभाशुभ का उचित निर्णय करके सत्य और कर्त्तव्य कर्म को मानना-मनवाना, असत्य और अकर्त्तव्य कर्म का छोड़ना-छुड़वाना ही मनुष्यपन है। इसलिये सार्वजनिक हित लक्ष्य में धर सत्य के जय और असत्य के क्षय के अर्थ मित्रता से वाद, लेख व उपदेश करना मनुष्य धर्म है। ताकि अपनी-अपनी समझ के अनुसार स्वयं अपना हिताहित आसानी से जानकर सत्यार्थ का स्वीकार और मिथ्यार्थ का परित्याग करके सदा परमानन्दित होवें। क्योंकि सत्योपदेश के विना अन्य कोई भी मनुष्य-जाति की उन्नति, उपकार व आनन्द का कारण नहीं।

जब तक मनुष्य जाति में से परस्पर मिथ्या मतमतान्तर का विरुद्धवाद न छूटेगा, तब तक अन्योन्य को परमानन्द न होगा। यदि सब मनुष्य ईर्ष्या, द्वेष, दुराग्रह, अविद्यादि दोष छोड़ सत्यासत्यविवेक से सर्वोदय प्रयोजन की सिद्धि के लिये सत्य का ग्रहण और असत्य का परित्याग करना-कराना चाहें, तो यह असाध्य नहीं है। क्योंकि मनुष्य का आत्मा सत्यासत्य निर्णय का सामर्थ्य व कामना रखता है, जो कि उसके मननशील होने का लक्षण है।

सर्वशक्तिमान् परमात्मा एक मत में प्रवृत्त होने का उत्साह सब मनुष्यों के आत्माओं में प्रकाशित करें, ताकि सर्वत्र भूगोल में 'आर्यधर्म' की सुगन्धि फैल जावे।

आर्यसिद्धान्त

स्वरूप

(१) आर्यसमाज एक "*सार्वभौम आस्तिक धर्म प्रचारक संघ*"* है, जो सृष्टि को रचने वाली एक *दिव्य चेतन शक्ति* व जनहित के लिए उसके दिये *आदिज्ञान* (कल्याणी वाणी वेद) को स्वीकार करता है और उसको अपने कार्य कर्तव्यों व दार्शनिक सिद्धान्तों का आधार मानता है। यह "*सत्य सनातन वैदिकधर्म*" को मानव के *अभ्युदय और नि.श्रेयस् का साधन मानता है।*

जड़-चेतन

(२) क. *आर्यसमाज जड़ और चेतन दो प्रकार के अस्तित्व* मानता है अर्थात् विश्व के समस्त पदार्थों को जड़ और चेतन (चर अचर) दो वर्गों में विभक्त करता है; क्योंकि इस सृष्टि में जड़ और चेतन रूप से द्विविध तत्वों का मेल दृष्टिगोचर होता है।

ख. जो वस्तु चेतना (अर्थात् इच्छा-ज्ञान-प्रयत्न सुख-दुःख द्वेष) के व्यवहारों से रहित है, संवेदनासंकल्प विहीन है, उसको जड कहते हैं। जो पदार्थ (अर्थात् इच्छा-ज्ञान-प्रयत्न-सुख दु ख-द्वेष) के गुणों से युक्त है, सवेदनासंकल्पमय है उसको चेतन कहते हैं।

ग. सृष्टि कर्त्ता शक्ति ईश्वर भी चेतन है, क्योंकि उसमें ज्ञान है और ज्ञानानुकूल क्रिया भी। परन्तु उसमें सुख-दुःख द्वेष और संवेदना नहीं है।

---

* अथवा लोकोपकारी आर्यजनों का समाज या संगठन है।

आदिमूल ईश्वर ओंकार ब्रह्म

(३) क. वह दिव्यशक्ति आदिप्रेरक, केवल (अद्वितीय स्वगतपरगतभेद शून्य) चेतन वस्तु है, सच्चिदानन्द आदि लक्षणयुक्त है। इसके गुण-कर्म स्वभाव और स्वरूप पवित्र एव सत्य हैं। यह नित्य अद्वितीय सर्वशक्तिमान् सर्वव्यापक अनादि अनन्त आदि सत्यगुण वाला है। अकारणकारण (=स्वयभू:, अनकौज्ड कौज्) अविनाशी अपरिवर्तनशील ज्ञानी (= सर्वज्ञ) आनन्दमय शुद्ध बुद्धमुक्तस्वभाव त्रिकालातीत न्यायकारी दयालु तथा अजन्मा आदि स्वभाव वाला है। उसका कर्म जीवों के कल्याणार्थ जगत् की उत्पत्ति पालन और विनाश करना तथा सब जीवों को उनके कर्मानुसार सत्य न्याय से पापपुण्य के फल ठीक ठीक देना है। वह सगुण निर्गुण और निराकार है।

ख. उसको भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न कालों मे विविध नामों द्वारा पुकारा गया है। विश्व के दार्शनिक एवं सांस्कृतिक इतिहास मे सर्वप्रथम वह *'ओंकार'* नाम से स्मरण किया गया है, ब्रह्म, परमात्मा ईश्वर आदि भी उसी के नाम हैं। यह ओंकार शब्द उसका सर्वोत्तम नाम है और इस एक नाम से उसके बहुत से नाम आते हैं। ※

※ परन्तु इनसे भिन्न परमात्मा के असख्य नाम हैं, क्योंकि जैसे उसके अनन्त गुण कर्म स्वभाव हैं, वसे ही उसके अनन्त नाम भी हैं। उसके प्रत्येक गुण कर्म स्वभाव व्याख्यान है और अग्नि इन्द्र आदि नाना नाम वहाँ आये हैं।

वर्तमान काल के इतिहासज्ञों व वैदिक विद्वानों के मत को कि "वेदों में ईश्वर के कई नामों तथा वैदिककाल में कई देवों अग्नि मित्र वरुण आदि का विकास हुआ है", आर्यसमाज नहीं मानता। "पहले

(४) सृष्टि के निर्माण सचालन और संहार के निमित्तवह स्वयं निष्क्रिय होते हुए भी सक्रिय होता है, अर्थात् स्वयंकर्त्ता सृष्टि न करके जीवकर्त्ता करता है। इस सृष्टि से ईश्वर के विज्ञान, बल और क्रिया का एवं न्याय, दया आदि स्वगुणों का प्रकाशन और जीवों के कर्मफलभोग का प्रयोजन सिद्ध होता है।

(५) क. वह निष्काम भाव से जीव (=सोल, रूह) के कर्म और भोग के निमित्त प्रकृति को जगत् रूप में परिवर्तित करता है; यही उसकी _दया_ है।

वह जीव को उसके कृत शुभाशुभ कर्मों का बिना पक्षपात के सुख-दुःख रूप में फल देता है, न्यूनाधिक नहीं, यही उसका _न्याय_ है।

इसीलिए वह _दयालु व न्यायकारी_ॐ है और माता-पिता बन्धु व सखा कहाता है।

आर्य एक आदि शक्ति में विश्वास नहीं करते थे, धीरे-धीरे वे एकेश्वरवाद की ओर आये तथा पहले विष्णु नाम से फिर अन्य नामों से पूजा करने लगे" आदि-आदि स्थापनाओं को आर्यसमाज निराधार कपोल-कल्पित और अवैदिक मानता है।

ॐ लोक में एक भ्रान्ति है कि="यदि ईश्वर ठीक-ठीक कर्मफल देता है, न्यूनाधिक नहीं; तो वह दयालु कैसे हो सकता है? क्योंकि 'अपराधी को क्षमा करना दया' और 'अपराधी को दण्ड देना, न्याय' है। ये दोनों गुण परस्पर विरुद्ध हैं। जो न्याय करे, तो दया और दया करे, तो न्याय छूट जाय। न्याय उसको कहते हैं, जो कर्मों के अनुसार जीवों को न अधिक न न्यून सुख-दुःख पहुंचाना। और दया उसको कहते हैं, जो अपराधी को बिना दण्ड दिये छोड़ देना।" परन्तु यह ठीक नहीं। एक अपराधी को क्षमा करके छोड़ देना, दया नहीं; उसके

(ख) वह चेतन दिव्य शक्ति परमेश्वर एक ही है। अर्थात् कोई दूसरा उसके अधिक या तुल्य नहीं, *अकेला* अर्थात् उससे भिन्न न कोई दूसरा न तीसरा है, अनेक नहीं। उसके एकपने में

और सब जगत् के साथ अन्याय करना है। पापी को पाप का दण्ड अवश्य मिलना चाहिए। दण्ड का उद्देश्य अपराधी का सुधार, दूसरों को उससे और उस जैसे लोगों से बचाना और धर्म-नीति तथा राजनियम के महत्व को समाज में स्थापित रखना है। दण्ड मिलने में ही पापी का भला है उसे दण्ड न देना उसके दोषों को बढ़ाना है। और वह उस पर अत्याचार करना है।

सत्य तो यह है कि परिणाम की दृष्टि से न्याय और दया का नाम-मात्र, भेद है। क्योंकि जो न्याय से प्रयोजन सिद्ध होता है, वही दया से। दण्ड देने का प्रयोजन है कि मनुष्य अपराध करने से बन्द होकर दुःखों को प्राप्त न हो। यही दया कहाती है, जो पराये दुःखों का छुड़ाना है। इन दोनों का इतना ही भेद है कि जो मन में सबको सुख देने और दुःख छुड़ानेकी इच्छा एवं कृपा करना है, वह दया और उपकार बुद्धि से बाह्य चेष्टा बन्धन छेदनादि यथावत् दण्ड देना, न्याय कहाता है। दोनों का समान प्रयोजन मनुष्य जाति को सब पाप और दुःखों से पृथक् कर देना है। जब हम स्थूल दण्ड को देखते हैं, तो उसे न्याय कहते हैं, और जब उसके पीछे निहित भाव को देखते हैं, तो उसे दया का नाम देते हैं।

न्याय और दया में यह सूक्ष्म भेद भी है कि न्याय के लिए जिस पर न्याय किया जाय उसके कर्म की अपेक्षा है; किन्तु दया के लिए नहीं। अर्थात्, कोई न्यायकारी न्यायाधीश न्याय नहीं कर सकता, यदि अन्यों द्वारा कर्म न किये जायें। परन्तु दयालु बिना किसी के कर्म किये स्वयं दया अपनी ओर से करता है।

भी भेद नहीं और वह शून्य भी नहीं।१

(ग) वह द्रष्टा है और सब जगत् में परिपूर्ण होके जड़ तथा चेतन दोनों प्रकार के जगत् को देखता है, उसका कोई द्रष्टा (अध्यक्ष) नहीं और वह स्वयं किसी का दृश्य भी नहीं हो सक्ता।

(घ) वह सर्वज्ञ है अर्थात् सब कुछ जानता है और उसका ज्ञान संसार की सब वस्तुओं से प्रगट होता है।*

---

१ इससे प्रतीत होता है कि वह एक ही परमात्मा—

सजातीय भेद से भी रहित है क्योंकि उस जैसा और कोई परमात्मा हो नहीं।

वह विजातीय भेद से भी रहित है, क्योंकि उससे अधिक या कम सामर्थ्य रखने वाला कोई भिन्न परमात्मा ही नहीं है।

वह स्वगतभेद से भी शून्य है क्योंकि उसके अपने टुकड़े भी नहीं किये जा सकते। वह एक रस है।

* ईश्वर के 'सर्वज्ञ' गुण के सम्बन्ध में सज्जनों में साधारणतः एक भ्रम पाया जाता है। सर्वज्ञ और त्रिकालज्ञ शब्दों के भाव एक ही हैं। इसलिये वे कहा करते हैं कि "जब ईश्वर सब कुछ अर्थात् तीनों कालों (भूत भविष्यत् वर्त्तमान) के घटना समूह को जानता है, तो भविष्य में मनुष्य क्या करेंगे, इसको भी जानता है। अर्थात् जीव के लिये कर्म निश्चित हो गया। यदि यह ठीक है, तो उसके ज्ञान में आये कर्मों के अनुसार कर्म करने के लिये जीव बाध्य है अर्थात् पूर्व ही कर्म निश्चित होने के कारण वह कर्म उसका स्वतन्त्र कर्म न रहा। इसलिये न तो जीव को कर्म करने की स्वतन्त्रता रही और न उनके फल भोगने की जिम्मेवारी। क्योंकि कर्म करने में स्वतन्त्र न रहने के कारण वे कर्त्ता नहीं रहे और समस्त कर्मों का वास्तविक कर्त्ता ईश्वर हो गया।"

यह तर्क ठीक नहीं। ईश्वर त्रिकालज्ञ है और भली-भांति वह

(ङ) वह सर्वव्यापक है अर्थात् सूक्ष्म से सूक्ष्म और महान् पदार्थ के अन्दर और बाहर ओत-प्रोत है। वह इस ब्रह्माण्ड में पूर्ण (सर्वत्र व्याप्त) हो रहा है और वह जीव के भीतर भी व्यापक अर्थात् अन्तर्यामी है। वह सूक्ष्मतर से भी सूक्ष्मतम और महत्तर से भी महत्तम है। इससे कोई सूक्ष्म तथा बड़ी वस्तु न तो है, न होगी और न थी।

जानता है कि "किस समय किन नियमों से प्रलय होगा और उसके बाद किस प्रकार किन नियमों से सृष्टि होगी? जीवों को उनके किये कर्मों का क्या-क्या, कैसे-कैसे और कब-कब फल मिलेगा?"

परन्तु जीवों के कर्मों के विषय में ईश्वर का ज्ञान क्या और कैसा है, यह बात गहराई से समझने योग्य है। मनुष्य जब कोई काम करता है, तो सब से पहले उसका विचार मन में लाता है। जब तक किसी कर्म का विचार भी मन में न उठे, तब तक उस कर्म का अभाव ही रहता है। जब मन में विचार आता है, तभी से कर्मों का भाव प्रारम्भ होता है। इसलिये यथार्थज्ञान यह हुआ कि भाव का भाव रूप में और अभाव का अभाव रूप में यथावत् जानना। यदि किसी को भाव का अभावात्मक और अभाव का भावात्मक ज्ञान है, तो वह विपरीत (मिथ्या भ्रम) ज्ञान ही है। इसलिए जिन कर्मों के करने का मनुष्य ने मन में अभी विचार ही नहीं किया है, उनका ज्ञान न होता है, न हो सकता है और न होना चाहिये। इस प्रकार क्योंकि कर्म अभी निश्चित नहीं, इसलिये परमात्मा को उनका भावात्मक ज्ञान नहीं होता।" दूसरे उन कर्मों की अभाव-संज्ञा से ईश्वर को भी इस अभाव का अभावात्मक ज्ञान ही है। अर्थात् उन कर्मों की प्रागभाव संज्ञा होने से (उत्पत्ति से पूर्व रहने वाला अभाव) ईश्वर भी उनको प्रागभाव रूप में ही जानता है। इस प्रकार ईश्वर के सर्वज्ञ एवं त्रिकालज्ञ होने

(च) वह स्वयं स्थिर है। जैसे एक वृक्ष शाखा पत्र तथा पुष्पादिकों को धारण करता है, उसी प्रकार परमेश्वर पृथिवी सूर्यादि समस्त जगत को धारण करता हुआ उसमें व्यापक होकर ठहरा हुआ है।

जैसे आकाश के बीच में सब पदार्थ रहते हैं, परन्तु आकाश सबसे अलग रहता है, अर्थात् किसी से बंधता नहीं, इसी प्रकार परमेश्वर को भी जानना चाहिये।

से मनुष्य के स्वतन्त्र कर्तृत्व में कोई बाधा नहीं पहुँचती।" तीसरे जानने न जानने का प्रश्न केवल उन घटनाओं के सम्बन्ध में हो सकता है, जिनका अस्तित्व हो अथवा हो चुका हो। जो घटना अभी हुई ही नहीं उसका अस्तित्व ही नहीं, जिसका अस्तित्व नहीं, उसके जानने न जानने का प्रश्न ही अर्थशून्य है। चौथे, देश और काल का भेद जीव के लिये है। एक व्यक्ति एक स्थान पर बैठा है। उसी समय वह अन्य स्थान पर नहीं हो सकता, जो आज है, वह कल न था, कल न रहेगा, इस प्रकार यह 'पहले पीछे' और 'यहाँ वहाँ' का भेद जीव के लिये ही है। परमात्मा के लिये ये दोनों सीमायें हैं ही नहीं; समस्त काल 'अब' और समस्त देश 'यहाँ' ही है। उसके लिये सारा काल वर्तमान ही है। क्योंकि जीवों के लिये तीन काल हैं, सो वह त्रिकालज्ञ कहाता है। काल का विभाजन हम अपने मानसिक विचार के कारण करते हैं। वास्तव में वह त्रिकालातीत है। त्रैकालिक सत्ता व्यावहारिक है अर्थात् भूत भविष्यत् वर्तमान रूप में काल का विभाजन लोक व्यवहार के निमित्त है।

हमने जो ऊपर लिखा है, वैसा बहुत से दार्शनिकों का मत है। इसी विषय में एक और विचार यहाँ लिखा जाता है। ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों के अध्ययन से पता चलता है कि—

(छ) वह (सर्वव्यापक और) सर्वशक्तिमान् है, क्योंकि उसकी महिमा ब्रह्माण्ड के प्रत्येक स्थान और प्रत्येक कार्य से प्रगट होती है तथा वह सृष्टि-निर्माण, संचालन व संहार के लिये आंख-कान-नाक आदि इन्द्रिययुक्त शरीर या (प्रकृति या जीव के अतिरिक्त)

"जीव अपने सामर्थ्यानुकूल कर्म करने में स्वतन्त्र है और ईश्वर सर्वज्ञ होने के कारण जीव के भविष्यत् कालिक कर्मों को भी सदा से जानता है। जीव स्वतन्त्रता से करता है और ईश्वर सर्वज्ञता से जानता है, ईश्वर सर्वज्ञता से जानता है और जीव स्वतन्त्रता से करता है। जीव की स्वतन्त्रता और ईश्वर की सर्वज्ञता स्वाभाविक है, दोनों निरपेक्ष हैं। इसी कारण ईश्वर की सर्वज्ञता के अनुकूल जीव स्वतन्त्रतापूर्वक कर्म करता हुआ भी पराधीन नहीं। ज्ञान कर्मों का बाधक होता ही नहीं। कर्मों का बाधक तो कर्म ही होता है, यह सामान्य नियम है। अतः इसमें कोई दोष नहीं कि ईश्वर सदा से जीव के भविष्यत् कर्मों को भी जानता है। जीव के भविष्यत् कर्मों का अभाव वर्तमान में है, इसमें सन्देह नहीं। परन्तु ईश्वर के लिये अभाव एवं देश और काल की सीमा है ही नहीं। वह तो सदा वर्तमान ही है। अतः ईश्वर की दृष्टि से उसमें भूत-भविष्यत् का व्यवहार बनता ही नहीं। जीव का जो भूत और भविष्यत् है, वह भी ईश्वर का वर्तमान ही है। यदि "जीव कर्म करे, तब ईश्वर जाने ऐसा नियम हो", तो ईश्वर की सर्वज्ञता सापेक्ष हो जाये। यह ठीक नहीं। अतः ईश्वर जीव के सब कर्मों को यथावत् वर्तमान रूप में ही सदा जानता है। ईश्वर में "जाना था अथवा जान लेगा" व्यवहार ही असिद्ध है। कालत्रय जीव के उत्पत्ति और मृत्यु के लिये हैं। स्वभाव से जीव भी नित्य सदा वर्तमान है, आत्मा अमर है।"

"जीवों के कर्मों की अपेक्षा से त्रिकालज्ञता ईश्वर में है।"

अन्य किसी पदार्थ (उपकरण-साधन-निमित्त) के सहाय की अपेक्षा नहीं रखता। जो कुछ करता है, बिना किसी साधन व व्यक्ति (पैगम्बर-अवतार) की सहायता के करता है। ❀ तथा पृथिवी आदि सब लोकों को रचकर अपने सामर्थ्य से धारण कर रहा है।

जैसा ईश्वर जानता है, वैसा जीव करता है। अर्थात् भूत, भविष्यत्, वर्तमान के ज्ञान और फल देने में ईश्वर स्वतन्त्र है।' वह ईश्वर ही नहीं जो सर्वज्ञ न हो, न भविष्यत् की बातें जाने। वह तो जीव है।

सर्वज्ञ तो सब जीवों के अच्छे-बुरे कर्मों को सदा से ठीक-ठीक जानता है।

इस से सिद्ध है कि जीव स्वतन्त्रतापूर्वक करता है और ईश्वर सर्वज्ञतापूर्वक सदा से जीव के तीनों कालों के कर्मों को जानता है।

जो यह कहा जावे कि जब जीव कर्म करता है तब ही ईश्वर जान लेता है, तो ईश्वर सर्वज्ञ नहीं रहता। क्योंकि इससे ईश्वर का ज्ञान पीछे और उत्पत्ति वाला हो गया, जो कि सर्वज्ञता में बाधक है।

सत्य यह है कि जीव की स्वतन्त्रता का विषय भिन्न है और ईश्वर की सर्वज्ञता भिन्न है। इनमें पारस्परिक अपेक्षा नहीं।

❀ ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता के विषय में भी अनेक प्रकार के साम्प्रदायिक भ्रम हैं :—

कई कहते हैं कि "कोई क्रिया भी जिसका चिन्तन किया जा सकता है, परमात्मा के लिये असम्भव नहीं। उसे कोई बाहर की शक्ति विवश नहीं कर सकती, उसके गुण कर्म स्वभाव ही उसे किन्हीं निश्चित नियमों पर चलने के लिये बाधित कर सकते हैं। यदि नियमों को वह स्वयं तोड़ सकता है, किसी मनुष्य को भी ऐसा करने की शक्ति प्रदान कर सकता है। इसी को [illegible], चमत्कार, मोजज़ा या मिरेकल कहते

ज. वह निराकार है क्योंकि सर्व-व्यापक है और किन्हीं दो वस्तुओं के शरीर से नहीं बना है। इसलिये उसको इन्द्रियों का विषय नहीं बनाया जा सकता। अर्थात् वह अशब्द अस्पर्श, अरूप, अरस, अगन्ध, अस्वाद, अपाणिपाद, अमल और अयोनि (अकारण) है। तथा न उसकी कोई मूर्ति है और न बन सकती है। उसका रूप और शरीर नहीं है। सर्व-व्यापक होने से वह मूर्ति में भी व्यापक है, पर मूर्त्ति वह नहीं। जैसे लोह खण्ड में ताप व्याप्त है, पर लोह खण्ड 'ताप' नहीं।

है। जैसे—मुहम्मद साहब ने हाथ बढ़ा कर चाँद के दो टुकड़े कर दिये और ईसामसीह ने अंधों को आंखें दीं, मृतों को जीवित किया तथा आप भी मृत्यु के तीन दिन पीछे कब्र से निकल कर शरीर सहित आसमान चढ़ गये। कृष्ण ने अंगुली पर गोवर्धन पर्वत उठाया और द्रोपदी को अक्षय वस्त्र दिया, आदि-आदि। दूसरे जब यह कहा जाता है कि न्यायकारी ईश्वर के शासन में प्रत्येक को कर्मों का ठीक-ठीक (न न्यून न अधिक) फल मिलना चाहिये और किसी की सिफारिश व कफारा का कुछ असर नहीं होता, तो वे कह देते हैं कि "ईश्वर सर्वशक्तिमान् है, इसलिये जिसे चाहे छोड़ दे, और जिसे न चाहे न छोड़े। जिस पर वह प्रसन्न हो उसको पापों से छुड़ा दे। जिस पर उसका प्रकोप हो उस पर कुफ्र तोड़े। वज्रपात हो।"

ये दोनों भाव ठीक नहीं। क्योंकि "ईश्वर यह नहीं करता अथवा कर भी नहीं सकता कि अन्याय करे, अपने आप को पापी व कामी बना सके, सूर्योदय की व्यवस्था भंग करदे, आग को प्यास बुझाने और पानी को जलाने का काम दे दें, अपने आप को नष्ट कर सके या अपने जैसा या अपने से बड़ा दूसरा परमेश्वर उत्पन्न करले।" दूसरे, अपराधियों को छोड़ने लगे, तो "उसकी न्याय व्यवस्था भंग हो जावे।"

इसलिये सर्वशक्तिमान् शब्द का यही अर्थ है कि:—(१) ईश्वर

दूसरे, यदि साकार होता तो, व्यापक न होता, व्यापक न होता तो सर्वज्ञादि गुण भी ईश्वर में न घट सकते, क्योंकि परिमित वस्तु में गुण कर्म और स्वभाव भी परिमित रहते हैं तथा शीत-उष्ण, राग-द्वेष सुख-दुःख तथा क्षुधा-तृषा, रोग दोष, और छेदन-भेदन आदि से रहित न हो सकता ।*

म. वह अजन्मा और निर्विकार है अर्थात् वह मनुष्य के समान 'जन्म, बाल्य, तारुण्य, प्रौढता, वार्धक्य, मरण' में नहीं आता । +

उसका जन्म नहीं होता, क्योंकि उसने जन्म के हेतु कर्म नहीं किये तथा उसको जन्म देने वाला कोई नहीं । जो पदार्थ

अपने कर्म अर्थात् सृष्टि की उत्पत्ति, पालन प्रलय करने में और सब जीवों के पुण्य पाप की यथावत व्यवस्था करने में किंचित् भी किसी की सहायता नहीं लेता । अर्थात् अपने अनन्त सामर्थ्य से ही सब काम पूरा कर लेता है । (२) ईश्वर स्वनिर्मित (सृष्टि) नियमों के अन्तर्गत (अनुसार) रहता हुआ अपनी असीम शक्तियों को प्रयोग में लाता है । अपने बनाये नियमों का स्वयं उल्लंघन नहीं करता । अपने गुण कर्म स्वभाव के विरुद्ध कोई काम नहीं करता । सर्वशक्तिमान् का यह अर्थ नहीं कि वह जैसा चाहे, जब चाहे, जो चाहे कर सकता है ।

*जो पदार्थ साकार है, वह एक देशी है, और इसलिये उसका ज्ञान भी (सर्वदेशी, असीम न होकर) परिमित होगा । जब ज्ञान परिमित है, तो उसकी शक्ति भी परिमित होगी । इसलिये जो लोग परमात्मा को साकार मानते हैं, वे उसे किसी क्षीर सागर या कैलाश पर्वत या सातवें आसमान पर रहने वाला मानते हैं । क्योंकि उसके लिये कोई विशेष स्थान तो चाहिये ही और वे उसे पृथ्वी पर किसी विशेष स्थान में बन्द करने का साहस कर नहीं सकते ।

+ वह जन्म मरण-जरा व्याधि-दुःख-दोषों में नहीं आता ।

जन्म ग्रहण करता है, उसमें ही षड्भाव विकार होते हैं, वही विकारी×होता है। ईश्वर विकारी नहीं, इसलिये अजन्मा है।ॐ

ञ. वह एक रस है उसमें कभी परिवर्तन नहीं होता। यदि वह परिवर्तनशील होता, तो दूसरी वस्तुओं में परिवर्तन न कर पाता तथा निर्विकार न होता, परिणामी होता।

ट. ईश्वर का अवतार नहीं होता। उन्नत स्थान से निम्न स्थान को पहुँचना अवतार है और यह कर्म गतियुक्त पदार्थ में ही सम्भव है। ईश्वर सर्वव्यापक व अचल है, इसलिये उसका अवतार मानना ठीक नहीं है। परमेश्वर का आना-जाना और जन्म मरण कभी सिद्ध नहीं हो सकते। क्योंकि इसका भाव है—'ईश्वर का परिमित समय के लिये देहधारी बनना', यह ईश्वर के सर्वज्ञत्व, सर्वव्यापकत्व आदि गुणों के विरुद्ध है।+

ठ. श्री राम, कृष्ण, बुद्ध, क्राइस्ट, और गांधी आदि पुरुष ईश्वर के अवतार नहीं थे, वे केवल महात्मा और धर्मात्मा थे। महात्मा बुद्ध तथा वर्धमान महावीर आदि व्यक्ति भी सर्वज्ञ नहीं हैं। ऐसे सब महात्मा अपने लोकोपकारक कर्मों के

× परमेश्वर विकर्त्ता है, विकारी नहीं।

ॐ वह परमेश्वर पृथिव्यादि जगत् के साथ व्यापक स्थित है और इससे अलग भी है। क्योंकि उसमें जन्म आदि व्यहार नहीं है और वही अपने आदि निमित्तभूत सामर्थ्य से सब जगत् को उत्पन्न भी करता है और आप कभी जन्म नहीं लेता। इसका कोई आदि कारण नहीं। वही सारी सृष्टि का आदि निमित्त कारण है।

+ परमात्मा तक पहुँचना कठिन है, मनुष्य चाहते हैं कि परमात्मा स्वयं उनके पास आ जाये। यह भावना परमेश्वर में श्रद्धाभक्ति नहीं, अपितु उसका परिहास करना है।

कारण आदरणीय और यथायोग्य अनुकरणीय हैं। परन्तु उनकी मूर्तियोंको सर्वज्ञ चेतन या ईश्वर समझ कर पूजना नहीं चाहिये।

(६) क. श्रेष्ठ व उन्नत होने के लिये जीव को इस सर्वोच्च शक्ति के साथ सम्बन्ध करना आवश्यक है। इसलिये यह शक्ति जो सकल ब्रह्माण्ड का संचालन करती है, पृथ्वी पर न्याय का प्रसार करती है, जिसकी दया व सामर्थ्य से सब जीवों (मनुष्य व अन्य प्राणियों) के 'भोग' के निमित्त नाना प्रकार के पदार्थ भरपूर उत्पन्न होते हैं, सब मनुष्यों को उसी की उपासना करनी योग्य है।

ख. पूर्वोक्त लक्षण सहित परमेश्वर ही को यथावत् जानकर मनुष्य ज्ञानी होता है, अन्यथा नहीं।

उसी को जान के और प्राप्त होके जीव जन्म-मरण आदि क्लेशों के समुद्र समान दुःख से छुटकर परमानन्द-स्वरूप मोक्ष को प्राप्त होता है। अन्यथा किसी प्रकार से मोक्षसुख नहीं हो सकता। मोक्ष को देने वाला एक परमेश्वर के बिना कोई दूसरा नहीं है।

व्यवहार और परमार्थ दोनों सुखों का मार्ग एक परमेश्वर की उपासना और उसका जानना ही है, क्योंकि इनके बिना मनुष्य को किसी प्रकार से सुख नहीं हो सकता।

इससे भिन्न किसी को ईश्वर स्वीकार करने तथा ईश्वर समझ कर उसकी उपासना करने से मनुष्य को दुःख ही होता है।

अतः जो सच्चिदानन्दादि लक्षण युक्त, एकरस, सबसे बड़ा, सबका प्रकाशक और अविद्या अन्धकार अर्थात् अज्ञान आदि दोषों से रहित है, उसी को इष्टदेव जानना चाहिये। उसी एक ईश्वर की ही उपासना सबको करनी उचित है, उससे भिन्न की — किसी की नहीं करनी चाहिये।

ईश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासना

(७) क. स्तुति : जो ईश्वर व किसी दूसरे पदार्थ के गुण कीर्तन श्रवण और ज्ञान करना है तथा जैसे को वैसा अर्थात् योग्य को योग्य व अयोग्य को अयोग्य कहना रूप सत्यभाषण करना है, वह स्तुति कहाती है। पदार्थों के गुण कीर्तन श्रवण ज्ञान से ईश्वर व अन्य गुणवाले पदार्थों में जो प्रीति होती है, तथा उनके गुण कर्म स्वभाव से अपने गुणकर्म सुधारना होता है, यह स्तुति का फल है।

जो मिथ्याज्ञान, मिथ्याश्रवण, मिथ्याभाषण, असत्य में आग्रह आदि क्रिया है, जिससे किसी पदार्थ व व्यक्ति में गुण छोड़कर उनके स्थान पर अपगुण लगाना होता है तथा जो जैसा नहीं, उसे वैसा कथन करना है, वह निन्दा कहाती है।

प्रार्थना अपने सामर्थ्ययुक्त पूर्ण पुरुषार्थ के उपरान्त उत्तम कर्मों व विज्ञानादि की सिद्धि के लिये परमेश्वर से याचना करना अथवा किसी सामर्थ्य वाले मनुष्य से सहायता लेने को प्रार्थना कहते हैं। निरभिमानता उत्साह, आत्मा में आर्द्रता, गुण-ग्रहण में पुरुषार्थ व अत्यन्तप्रीति व सहाय प्राप्ति का होना प्रार्थना का फल है।

उपासना जैसे ईश्वर के गुण कर्म स्वभाव पवित्र हैं, वैसे ही अपने करना, ईश्वर को सर्वव्यापक और अपने को व्याप्य, ईश्वर को उपास्य और अपने को उपासक, ईश्वर को जनक और अपने को उसकी सन्तान जानके ईश्वर के

समीप हम और हमारे समीप ईश्वर है, ऐसा निश्चय पूर्वक योगाभ्यास द्वारा साक्षात् करना, जिससे ईश्वर ही के आनन्दस्वरूप में अपने आत्मा को मग्न करना होता है, उसको उपासना कहते हैं।

निरहंकार, आत्मसंतोष, आत्मविश्वास, आशावादी मनोवृत्ति उच्चजीवन, सदा परोपकार में रत रहना, ज्ञान की उन्नति और परब्रह्म से मेल व उसका साक्षात्कार आदि उपासना का फल है।

स. सगुण-निर्गुण स्तुति-प्रार्थनोपासना — जो-जो गुण परमेश्वर में हैं, उनसे युक्त और जो-जो उसमें नहीं हैं, उनसे पृथक् मान कर परमेश्वर की प्रशंसा करना *सगुण-निर्गुण स्तुति*, शुभ गुणों के ग्रहण की इच्छा और अपने दोष छुडाने के लिये परमात्मा का सहाय चाहना, उसकी *सगुण निर्गुण प्रार्थना* और स्वकीय सब गुणों से सहित और जीव तथा प्रकृति के सब गुणों और दोषों से रहित परमेश्वर को मानकर अपने आप को उसके और उसकी आज्ञा के समर्पण कर देना, *सगुणनिर्गुणोपासना* होती है।

शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, संयोग, वियोग, हलका, भारी अविद्या, जन्म-मरण और दुःख आदि गुणों से रहित परमात्मा निर्गुण ब्रह्म कहाता है। ऐसा जान कर जो उसकी उपासना करना है, उसको *निर्गुणोपासना* कहते हैं।

जो सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, नित्यस्वभाव, आनन्दस्वरूप, सर्वव्यापक, एक सनातन सर्वकर्त्ता, सर्वाधार सर्वनियन्ता, सर्वान्तर्यामी, मंगलमय, सर्वानन्दप्रद, सबपिता सब जगत् का रचने वाला, न्यायकारी आदि सत्य गुणों से युक्त

है, उसे सगुण ब्रह्म कहते हैं। ऐसा जानकर जो उसकी उपासना करना है उसको *सगुणोपासना* कहते हैं।

जैसे शीत से आतुर पुरुष का शीत अग्नि के पास जाने से निवृत्त हो जाता है, वैसे परमेश्वर के समीप प्राप्त होने से सब दोष और दुःख छूटकर परमेश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव के सदृश जीवात्मा के गुण-कर्म-स्वभाव पवित्र हो जाते हैं। इसलिये परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना अवश्य करनी चाहिये। इससे इसका पृथक् फल तो होगा ही, परन्तु आत्मा का बल इतना बढ़ेगा कि वह पर्वत के समान दुःख प्राप्त होने पर भी न घबरायेगा और सब का सहन कर सकेगा।

क. ईश्वरप्रत्यक्ष

(८) जो श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा, घ्राण और मन का शब्द, स्पर्श, रूप रस, गन्ध और सुखदु:ख व सत्यासत्य विषयों के साथ सम्बन्ध होने से ज्ञान उत्पन्न होता है, उसको *प्रत्यक्ष* कहते हैं। यह ज्ञान 'निर्भ्रम' (=सन्देहशून्य, निःसंशयात्मक सत्य) होना चाहिये।

१. इन्द्रियों और मन से गुणों का प्रत्यक्ष होता है, गुणी का नहीं। जैसे त्वचा-चक्षु जिह्वाघ्राणेन्द्रियों स्पर्श रूप-रस और गन्ध गुणों का ज्ञान होने के पश्चात्, गुणी (जो पृथिवी है, उस) का आत्मायुक्त मन से प्रत्यक्ष किया जाता है। अर्थात् जैसे भूमि के रूपादि गुणों को ही देख जानके गुणों से अव्यवहित सम्बन्ध से भूमि प्रत्यक्ष होती है, वैसे ही इस प्रत्यक्ष सृष्टि में परमात्मा की रचना-विशेष लिंग देखके व ज्ञानादि गुणों के प्रत्यक्ष होने से गुणी परमेश्वर को भी शुद्धान्तःकरण, विद्या और योगाभ्यास से युक्त पवित्रात्मा प्रत्यक्ष देखता है।

पूजा, पंचायतनपूजा, देवपूजा

(६) क. चेतन (इच्छा ज्ञान प्रयत्न गुण वाले) का यथायोग्य सत्कार करना तथा भौतिक पदार्थों का यथायोग्य सदुपयोग करना पूजा कहाती है।

चैतन्य (इच्छा ज्ञान प्रयत्न) रहित जड़ पदार्थों को अर्घ्य देना नैवेद्य चढ़ाना व उनका समुचित उपयोग न करना तथा जो सत्कार के योग्य नहीं है, उसका सत्कार करना *अपूजा कहाती है।*

ख. जो आर्यावर्त्त में प्राचीन परम्परा से चले आ रहे *पंचदेव पूजा या पंचायतन पूजा नाम से शिव, विष्णु, अम्बिका,* गणेश और सूर्य की मूर्त्ति बनाकर पूजते हैं, वह पंचायतन पूजा नहीं। यह पंचदेव पूजा या पंचायतन पूजा शब्द बहुत अच्छे अर्थ वाला है, परन्तु विद्याहीन मूढों ने उसके उत्तम अर्थ को छोड़कर *निकृष्ट अर्थ पकड़ लिया है।* जो सच्ची वेदोक्त वेदानुकूलोक्त पंचायतन पूजा, देव पूजा और मूर्ति पूजा है, वह यों है—

प्रथम जीवित माता मूर्त्तिमयी पूजनीय देवता—अन्य सन्तानों की तन-मन-धन से सेवा करके, कभी उनको ताड़ना न करके माता को प्रसन्न रखना।

द्वितीय जीवित पिता सत्कर्त्तव्य देव—इसकी माता के समान सेवा करना।

तृतीय विद्यादाता आचार्य—इसकी तन-मन धन से सेवा करना।

चतुर्थ *अतिथि जो विद्वान् धार्मिक निष्कपटी*—सब की उन्नति चाहने वाला, जगत् में परिभ्रमण करके सत्योपदेश से सबको सुखी करता है; उसकी सेवा करना।

पंचम - स्त्री के लिये पति और पुरुष के लिये पत्नी पूजनीय है। परस्पर सेवा सत्कार करना।

ये पांच मूर्तिमान् देव हैं, जिनके संग से मनुष्य देह की उत्पत्ति, पालन, सत्यशिक्षा, विद्या और सत्योपदेश की प्राप्ति होती है। ये ही परमेश्वर को प्राप्त होने की सीढ़ियां हैं। इनकी सेवा न करके, जो पाषाणादि मूर्ति पूजते हैं, वे दुःख उठाते हैं। इसलिये पाषाणादि मूर्तिपूजा को सर्वथा छोड़ने और साक्षात् माता आदि प्रत्यक्ष सुखदायक मूर्तिमानों (=देवों) की सेवा करने में ही कल्याण है। इसलिये यथायोग्य सत्कार करके इनको प्रसन्न करना पंचायतन पूजा है।

ग. आर्यसमाज की दृष्टि में आप्त विद्वानों, माता-पिता, आचार्य (=उपाध्याय, गुरु, पुरोहित) सज्जन, अतिथि, न्यायकारी राजा, धर्मात्मा जन, पतिव्रता स्त्री और स्त्रीव्रत पति का जीवित दशा में यथायोग्य सत्कार करना देवपूजा है। इससे विपरीत··· अदेवपूजा है। इनकी मूर्तियाँ और इतर पाषाणादि जड़ मूर्तियाँ सर्वथा अपूज्य हैं।

घ. आर्यसमाज की दृष्टि में उपर्युक्त लक्षणानुसार तथा वेद विरुद्ध होने से मूर्तिपूजा भी अधर्मरूप है। इससे किसी प्रकार का भी कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। मनुष्यों का ज्ञान पाषाणादि जड़ की पूजा, अर्चना, अभिषेकादि से नहीं बढ़ सकता; किन्तु जो कुछ ज्ञान है, वह भी नष्ट हो जाता है। ज्ञानियों के सेवा-संग से ज्ञान बढ़ता है और आचरण शुद्ध होता है। पाषाणादि मूर्तिपूजा से निराधार सर्वव्यापक परमेश्वर को ध्यान में नहीं लाया जा सकता, क्योंकि मूर्ति के जड़त्व धर्म आत्मा में आने से विचार शक्ति छूट जाती है। विवेक के विना

अभ्यास, वैराग्य, इनके विना विज्ञान और विज्ञान के बिना शान्ति नहीं मिल सकती। अशान्ति मन की चंचलता का कारण है और चंचल मन ध्यान नहीं कर सकता। मूर्तिपूजा सीढ़ी नहीं, किन्तु एक बड़ी खाई है, जिसमें गिर कर मनुष्य चकनाचूर हो जाता है।

आर्यसमाज की दृष्टि में जो व्यक्ति पाषाणादि मूर्तियों को न मानकर सर्वदा सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, न्यायकारी परमात्मा को सर्वत्र जानता और मानता है, "वह सर्वज्ञ परमेश्वर को सर्वदा सबके बुरे भले कर्मों का द्रष्टा जानकर एक क्षण मात्र भी कुकर्म करना तो क्या मन में कुचेष्टा भी नहीं कर सकता।" क्योंकि वह जानता है, यदि मैं मन वचन कर्म से कुछ बुरा काम करूँगा तो उस अन्तर्यामी के न्याय से नहीं बच सकता।

ड. मुक्ति की भावना से *तीर्थ भ्रमण गंगास्नान* आदि भी निष्प्रयोजन होने से त्याज्य हैं। ये जल स्थल तराने वाले नहीं किन्तु डुबा कर मारने वाले हैं।

जीव

(१०) क. ईश्वर के अतिरिक्त एक दूसरी चेतन शक्ति *जीव* है, जो सृष्टि का निर्माण नहीं करती परन्तु जिसके कर्म करने और भोग के निमित्त इस सृष्टि का निर्माण होता है।

ख. यह ईश्वर की बनाई सृष्टि में परिवर्तन कर सकता है। इसका अभिप्राय यह है कि—सृष्टि में उपलब्ध पदार्थों को अपने भोग के निमित्त परिवर्तित कर सकता है। जैसे मिट्टी से ईंट बना सकता है। पानी में से बिजली निकाल सकता है।

ऐश्वरी सृष्टि का-कर्त्ता ईश्वर है, जैवी सृष्टि का नहीं।

पञ्चभूतात्मक जगत् बना वृक्ष फल औषधि अन्नादि ईश्वर उत्पन्न कर सकता है। इनको अपने सुख-सुविधानुकूल जीव परिवर्तित कर लेता है।

यद्यपि जीव जगत् को नहीं बना सकता, तथापि अपने बुद्धि चातुर्य्य से अपने पर पड़ने वाले इसके प्रभाव को कम ज्यादा कर सकता है।

ग. जीव एक नहीं, अनेक हैं। मनुष्य की दृष्टि से इनकी संख्या अनन्त है।

घ. यह अणुरूप अर्थात् परिच्छिन्न, एकदेशी अत्यन्त सूक्ष्म परिमाण अविनाशी है। यह अज, नित्य, शाश्वत है, अल्प शक्ति वाला, अल्प ज्ञान वाला है और सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, ज्ञान, प्रयत्न इसके लिंग हैं। यह कर्मफल भोगता अर्थात् अपने किये शुभाशुभ कर्मों को सुख-दुःख के रूप में अनिवार्य रूप से न न्यून न अधिक भोगता है।

ङ. जीव स्वतन्त्रता पूर्वक जैसा शुभाशुभ कर्म करता है, उसको तदनुसार सुखदुःखात्मक फल भोगने के लिये वैसी ही योनि (शरीर जन्म) अर्थात् पुण्य कार्य से उत्तम-जन्म और पाप कर्म से निकृष्ट-जन्म मिलता है।*

च. जीव इस प्रकार कर्मफल के अनुसार 'एक शरीर' को छोड़कर 'दूसरे शरीर' में चला जाता है। इस प्रकार कृमि कीट मत्स्य पिपीलिका मंडूक पतंग पशु-पक्षी आदि रूप में व मानव-रूप में जन्म लेकर यह इस सृष्टि में व्यापार करता है।

*इसी को अवतार कह सकते हैं, जो कि जीव का होता है, ईश्वर का नहीं।

छ. हर एक योनि में वह स्त्री-पुरुष दो रूपों में प्रगट होता है। जीव न स्त्री है, न पुरुष है न नपुंसक है। जीव बाल नहीं, तरुण नहीं, वृद्ध नहीं। न पशु है, न पक्षी। जिस शरीर को धारण करता है, उसी नाम से कहा जाता है। जिस अवस्था में होता है, उसी नाम से पुकारा जाता है। यह लैंगिक भेद स्थूल शरीर तक ही सीमित है।

ज. जीव के स्वतन्त्रता से कर्म करने में समर्थ होने के और परतन्त्रता से कर्मफल भोगने के निमित्त किसी 'अपूर्व देह से संयुक्त होने का नाम *जन्म*, और जिस स्थूल शरीर को प्राप्त करके जीव क्रिया करता है, उस वर्तमान देह से वियुक्त होने का नाम मृत्यु है।

झ. जीव स्वरूप से न कभी मरता है और न कभी उत्पन्न होता है अर्थात् कभी ऐसा समय नहीं रहा, जब जीव न रहा हो और न ऐसा समय होगा, जब जीव नहीं रहेगा। वह नित्य सत्पदार्थ है। जन्म-मरण तो उसके शरीर में प्रवेश और शरीर के त्याग का नाम है।

(११) क. मानवयोनि में आकर वह युक्ति और ज्ञान सहित पुरुषार्थ करके अनुकूल (अच्छी=शुभ) व अज्ञानपूर्वक आचरण से प्रतिकूल (बुरी=अशुभ) परिस्थिति बनाता है। वह "स्वतन्त्र इच्छाशक्ति वाला"* है, अर्थात् "वह कर्म करने में स्वतन्त्र है

* पूर्वपक्षी—'परमेश्वर त्रिकालदर्शी है, इससे भविष्यत् की बातें जानता है। वह जैसा निश्चय करेगा, जीव वैसा ही करेगा। इससे जीव स्वतन्त्र नहीं रहा और जीव को ईश्वर दण्ड भी नहीं दे सकता। क्योंकि जैसा ईश्वर ने अपने ज्ञान से निश्चित किया है वैसा ही जीव करता है।

और फल भोगने में परमेश्वर की व्यवस्था से परतंत्र है अर्थात ईश्वराधीन है।"

ख. वह स्वभावतः (=स्वतः) पापवान् (=बॉर्नसिनर, जन्मपापः) या पुण्यवान नहीं है। जन्मते समय पूर्वजन्मकृत शुभाशुभ कर्मों के अनुसार पापवासनायुक्त या पुण्यवासनायुक्त होता है।

ग. जीव का इस प्रकार जो शरीर धारण कर प्रगट होना है, वह *पूर्व*, पर और *मध्य* भेद से तीन प्रकार है। अर्थात् यही भविष्यत् आगत जन्म की अपेक्षा से *पूर्वजन्म*, भूत (गत) जन्मापेक्षया *पुनर्जन्म* और *वर्तमान जन्म* कहाता है।

(१२) क. जीव जब निष्काम भाव से अच्छे कर्म करते-करते आत्मज्ञानयुक्त उच्चतम अवस्था (परमपद)

समाधान—इसका उत्तर पहले भी दे चुके हैं। संक्षेप से यहां लिखते हैं। ईश्वर को त्रिकालदर्शी (जिस अर्थ में तुम कहते हो) कहना अदार्शनिक है। क्योंकि जो होकर न रहे, वह भूतकाल और न होके होवे, वह भविष्यत् काल कहाता है। क्या ईश्वर को कोई ज्ञान होके नहीं रहता और न होके होता है ? इसलिए परमेश्वर का ज्ञान सदा एकरस अखण्डित वर्तमान रहता है। भूत, भविष्यत् जीवों . लिये है। क्योंकि नित्य होता हुआ भी जीव जन्म-मरण के चक्र में आने जन्म से पूर्व समय को भूत और आगामी को भविष्यत् या बीत को भूत और न आये समय को भविष्यत् कहता है। ऐसा परमेश्वर सम्बन्ध में नहीं घटता। हाँ, जीवों के कर्म की अपेक्षा से त्रिकालज्ञता ईश्वर में है, स्वतः नहीं। इसलिये जीव के स्वतन्त्र कर्तृत्व में कोई दोष नहीं रहता।

को पहुँचता है, तो वह मुक्त हो जाता है अर्थात् शरीर रहित दशा में (*विज्ञान व आनन्द पूर्वक*) *स्वतंत्र विचरता हुआ नियत* समय परान्तकाल तक ईश्वर के आनन्द में मग्न रहता है ।

ख. इस प्रकार दीर्घ और नियत काल तक मुक्ति का आनन्द भोग कर ® पुनः मोक्ष दशा से लौटता है और साधारण मनुष्य का शरीर धारण करता है । इस शरीर में यदि अच्छे काम करता है, तो फिर मुक्त हो जाता है । और यदि बुरे कर्म करता है, तो नीचे की योनियों का चक्र प्रारम्भ हो जाता है ।

प्रकृति

(१३) क. 'दृश्यमान-प्रपंच' (= जड़ जगत्) का मूल उपादान कारण 'प्रकृति' है, जो अचेतन है । यह सूक्ष्म और परमाणु रूप है । ये परमाणु जड़ उत्पत्ति-विनाश-रहित, निरवयव और नित्य हैं । ये नाना और असंख्यात हैं । इनके परिणाम अर्थात् संयोग विभाग के द्वारा पृथिवी जल अग्नि वायु आदि पंचभूत उत्पन्न होते हैं । जीवों के शरीर फिर इन भूतों से निर्मित होते हैं ।

ख. यह प्रकृति 'सत्व रजः-तमः' रूप से त्रिगुणात्मिका, इन्द्रियगोचर न होने से अव्यक्त और सूक्ष्म होने से अलिंग भी कहलाती है । अव्यक्त होने से 'अदृश्य' है । पृथ्वी आदि पांच स्थूल रूपों द्वारा व्यक्त (दृश्यमान रूप को प्राप्त) हो जाती है ।

ग. प्रकृति सीमित है और परमात्मा (पुरुष) के एकदेश में रहती है । इस लिये प्रकृति व्याप्य और परमात्मा व्यापक है ।

® नया जन्म स्वगुण कर्म स्वभाव के प्रकाशनार्थ व फलभोगार्थ होता है ।

सृष्टि-प्रलय

(१४) क. परमाणुओं के संयोग विशेष से सृष्टि बनती है और परमाणुओं में वियोग विशेष से प्रलय होता है। या प्रकृति के विकार से सृष्टि बनती है।

सृष्टि — उपादानकारण द्रव्य प्रकृति, जब ज्ञानपूर्वक परमाणुओं के संयोग विशेष से कर्ता ईश्वर के सामर्थ्य से कार्य रूप में परिणत होकर अनेक प्रकार से नाना रूप धारण कर जीवों द्वारा व्यवहार करने योग्य होती है, तब, उसे सृष्टि कहते हैं।

प्रलय — ईश्वर के सामर्थ्य द्वारा विश्व (अर्थात् कार्यरूप जगत् जब पुनः अपने कारणरूप में परिवर्तित हो जाता है, तब उसे प्रलय कहते हैं।

"अर्थात् कारण रूप प्रकृति का जीवों के भोग और कर्म के निमित्त ईश्वर सामर्थ्य द्वारा कार्यरूप जगत् में परिवर्तित हो जाना सृष्टि और कार्यरूप जगत् का पुनः अपने कारणरूप प्रकृति में ईश्वर सामर्थ्य द्वारा विलय हो (सिमट) जाना प्रलय कहाता है।"

सृष्टिक्रम (उत्पत्ति और विनाश)

(१५) क. सृष्टि के उत्पत्ति और विनाश भौतिक हैं, लौकिक नहीं। भूत (पृथिव्यादि) सृष्टि और भूतप्रलय होता है, लोक (सूर्यादि) सृष्टि और लोक प्रलय नहीं। ब्रह्माण्ड में किसी एक लोक का प्रलय हो जाना और अन्य लोकों का बचे रहना, यह बात सृष्टि-क्रम-विज्ञान और शास्त्र-सम्मत नहीं है। क्योंकि इस सौरमण्डल

सृष्टि निमित्त ईश्वर के गु:
ख, सृष्टि का प्रयोजन - स्वभाव का साफल्य तथा म
और जीवों के कर्मों का यथावत्
करना तथा अपवर्ग प्राप्ति आदि है।

"जो परमेश्वर जगत् को न बनाता, तो स्वयं आनन्द में रहता और जीवों को भी सुखदुःख प्राप्त न होता," ये आर और दरिद्र लोगों की बातें हैं, पुरुषार्थी सज्जन धार्मिक की नहीं।

१. जीवों को प्रलय में क्या सुख व दुःख है ? यदि स के सुखदुःख की तुलना की जाय तो सुख कई गुणा अ उपलब्ध होता है। जीव को सुख पहुंचाना सृष्टि का प्रयोजन

२. यदि सृष्टि न बनती, तो बहुत से पवित्रात्मा जीव मु के साधन कर मोक्ष के आनन्द को भी प्राप्त न हो सकते।

३. यदि सृष्टि न बनती तो जैसे जीव सुषुप्ति में निकम्मे पड़े रहते हैं, वैसे रहते। जीव के इच्छा-ज्ञान-प्रयत्न गुणों क प्रकाश न हो सकता।

४. यदि सृष्टि न बनती, तो प्रलय के पूर्व की सृष्टि में जीवों के किये पापपुण्यकर्मों का फल ईश्वर कैसे दे सकता और जीव उनका फल क्योंकर भोग सकते ?

५. जैसे आँख के होने में देखना प्रयोजन है, वैसे ही ईश्वर में रहने वाले विज्ञान बल और क्रिया का जगत् की उत्पत्ति करने के अतिरिक्त और क्या प्रयोजन है ?

६. परमात्मा के न्याय, धारण, दया और गुण भी तभी सार्थक हो सकते हैं, जब वह जगत् को बनावे।

उसका अनन्त सामर्थ्य जगत् की उत्पत्ति स्थिति और प्रलय व्यवस्था करने ही से सफल है। जैसे आँख का स्वभाविक गुण देखना है, वैसे परमेश्वर का स्वभाविक गुण जगत् की उत्पत्ति करके सब जीवों को असंख्य पदार्थ देकर परोपकार करना है।

ग. सृष्टि सकर्तृक है. सृष्टि की रचना देखने से और जड़ पदार्थ में अपने आप यथायोग्य बीजादि स्वरूप बनने का सामर्थ्य न होने से सृष्टि का कर्त्ता ईश्वर अवश्य है।

घ. जो अनादि चिदानन्द ज्ञानस्वरूप सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् सर्वव्यापक परमात्मा जगत् को न बनावे, तो अन्य कौन बना सकता है ? जीव में जगत् बनाने का सामर्थ्य नहीं। और जड़ प्रकृति में भी स्वयमेव जगत् रूप बनने का सामर्थ्य नहीं। इसलिये यह सिद्ध हुआ कि परमात्मा ही जगत् को बनाता है। और जैसे वह परमाणुओं से सृष्टि करता है, वैसे मातापिता रूप निमित्त कारण से भी उत्पत्ति का प्रबन्ध-नियम उसी ने किया है।

जगत् का कर्त्ता न मानना और जगत् को स्वयं सिद्ध कहना कितनी बड़ी भूल है। भला बिना कर्त्ता के कोई कर्म, कर्म के बिना कोई कार्य जगत् में होता हुआ दीखता है ? बीज का स्वयं खेत में पड़ जाना, गेहूं का स्वयमेव कटना, पिसना और रोटी बनना क्या किसी ने देखा है ? कपास, सूत, कपड़ा अंगरखा, दुपट्टा, धोती, साड़ी, कमीज, कोट, टोपी, पगड़ी आदि स्वयमेव बन कर कभी नहीं आते। जब ऐसा नहीं तो ईश्वर कर्त्ता के बिना यह विविध जगत् और नाना प्रकार की रचना कैसे बन सकती है ?

(१६) क. जो ईश्वर प्रकृति का नियामक और सृष्टि का कर्त्ता धर्त्ता हर्त्ता है, वह परमाणुओं का संयोग-वियोग करके

ख. *सृष्टि का प्रयोजन* - सृष्टि निमित्त ईश्वर के गुण कर्म स्वभाव का साफल्य तथा प्रकाशन और जीवों के कर्मों का यथावत् भोग करना तथा अपवर्ग प्राप्ति आदि है।

"जो परमेश्वर जगत् को न बनाता, तो स्वयं आनन्द में बना रहता और जीवों को भी सुखदु.ख प्राप्त न होता," ये आलसी और दरिद्र लोगों की बातें हैं, पुरुषार्थी सज्जन धार्मिक विद्वानों की नहीं।

१. जीवों को प्रलय में क्या सुख व दु.ख है? यदि सृष्टि के सुखदु.ख की तुलना की जाय तो सुख कई गुणा अधिक उपलब्ध होता है। जीव को सुख पहुंचाना सृष्टि का प्रयोजन है।

२. यदि सृष्टि न बनती, तो बहुत से पवित्रात्मा जीव मुक्ति के साधन कर मोक्ष के आनन्द को भी प्राप्त न हो सकते।

३. यदि सृष्टि न बनती तो जैसे जीव सुषुप्ति में निकम्मे पड़े रहते हैं, वैसे रहते। जीव के इच्छा-ज्ञान-प्रयत्न गुणों का प्रकाश न हो सकता।

४. यदि सृष्टि न बनती, तो प्रलय के पूर्व की सृष्टि में जीवों के किये पापपुण्यकर्मों का फल ईश्वर कैसे दे सकता और जीव उनका फल क्योंकर भोग सक्ते?

५. जैसे आँख के होने में देखना प्रयोजन है, वैसे ही ईश्वर में रहने वाले विज्ञान बल और क्रिया का जगत् की उत्पत्ति करने के अतिरिक्त और क्या प्रयोजन है?

६. परमात्मा के न्याय, धारण, दया और गुण भी तभी सार्थक होते हैं, जब वह जगत् को बनाये।

उसका अनन्त सामर्थ्य जगत् की उत्पत्ति स्थिति और प्रलय व्यवस्था करने ही से सफल है। जैसे आँख का स्वभाविक गुण देखना है, वैसे परमेश्वर का स्वभाविक गुण जगत् की उत्पत्ति करके सब जीवों को असंख्य पदार्थ देकर परोपकार करना है।

ग. सृष्टि सकर्तृक है. सृष्टि की रचना देखने से और जड़ पदार्थ में अपने आप यथायोग्य बीजादि स्वरूप बनने का सामर्थ्य न होने से सृष्टि का कर्त्ता ईश्वर अवश्य है।

घ. जो अनादि चिदानन्द ज्ञानस्वरूप सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् सर्वव्यापक परमात्मा जगत् को न बनावे, तो अन्य कौन बना सकता है? जीव में जगत् बनाने का सामर्थ्य नहीं। और जड़ प्रकृति में भी स्वयमेव जगत् रूप बनने का सामर्थ्य नहीं। इसलिये यह सिद्ध हुआ कि परमात्मा ही जगत् को बनाता है। और जैसे वह परमाणुओं से सृष्टि करता है, वैसे मातापिता रूप निमित्त कारण से भी उत्पत्ति का प्रबन्ध-नियम उसी ने किया है।

जगत् का कर्त्ता न मानना और जगत् को स्वयं सिद्ध कहना कितनी बड़ी भूल है। भला बिना कर्त्ता के कोई कर्म, कर्म के बिना कोई कार्य जगत् में होता हुआ दीखता है? बीज का स्वयं खेत में पड़ जाना, गेहूं का स्वयमेव कटना, पिसना और रोटी बनना क्या किसी ने देखा है? कपास, सूत, कपड़ा अंगरखा, दुपट्टा, धोती, साड़ी, कमीज, कोट, टोपी, पगड़ी आदि स्वयमेव बन कर कभी नहीं आते। जब ऐसा नहीं तो ईश्वर कर्त्ता के बिना यह विविध जगत् और नाना प्रकार की रचना कैसे बन सकती है?

(१६) क. जो ईश्वर प्रकृति का नियामक और सृष्टि का कर्त्ता धर्त्ता हर्त्ता है, वह परमाणुओं का संयोग-वियोग करके

ख. सृष्टि का प्रयोजन - सृष्टि निमित्त ईश्वर के गुण कर्म स्वभाव का साफल्य तथा प्रकाशन और जीवों के कर्मों का यथावत् भोग करना तथा अपवर्ग प्राप्ति आदि है।

"जो परमेश्वर जगत् को न बनाता, तो स्वयं आनन्द में बना रहता और जीवों को भी सुखदुःख प्राप्त न होता," ये आलसी और दरिद्र लोगों की बातें हैं, पुरुषार्थी सज्जन धार्मिक विद्वानों की नहीं।

१. जीवों को प्रलय में क्या सुख वं दु.ख है? यदि सृष्टि के सुखदुःख की तुलना की जाय तो सुख कई गुणा अधिक उपलब्ध होता है। जीव को सुख पहुंचाना सृष्टि का प्रयोजन है।

२. यदि सृष्टि न बनती, तो बहुत से पवित्रात्मा जीव मुक्ति के साधन कर मोक्ष के आनन्द को भी प्राप्त न हो सकते।

३. यदि सृष्टि न बनती तो जैसे जीव सुषुप्ति में निकम्मे पड़े रहते हैं, वैसे रहते। जीव के इच्छा-ज्ञान-प्रयत्न गुणों का प्रकाश न हो सकता।

४. यदि सृष्टि न बनती, तो प्रलय के पूर्व की सृष्टि में जीवों के किये पापपुण्यकर्मों का फल ईश्वर कैसे दे सकता और जीव उनका फल क्योंकर भोग सकते?

५. जैसे आँख के होने में देखना प्रयोजन है, वैसे ही ईश्वर में रहने वाले विज्ञान बल और क्रिया का जगत् की उत्पत्ति करने के अतिरिक्त और क्या प्रयोजन है?

६. परमात्मा के न्याय, धारण, दया और गुण भी तभी सार्थक होते हैं, जब वह जगत को बनावे।

घ. ब्रह्माण्ड अनन्त हैं। प्रलयावस्था आने पर सर्वत्र सब ब्रह्माण्डों में एक समान भूत प्रलय होता है और तदनुसार सर्वत्र एक समान ही सृष्टि बनती है।

ङ. आकाश से लेकर पृथिवी तत्व तक उत्पन्न होते-होते लाखों वर्षों का काल लग जाता है। स्थूल पृथिवी बनने के बाद भी उसकी गर्मी दूर होकर औषधि वनस्पति आदि उत्पन्न होने तक सहस्रों वर्ष व्यतीत हो जाते हैं। पुनः प्राणिसृष्टि अर्थात् पशु-पक्षी मानव आदि सृष्टि होती है।

इसी प्रकार प्रलय दशा में भी भूतों के स्थूल दृश्य रूप नष्ट हो, उनके सूक्ष्म परमाणु रूप तक विभाग होते-होते भी सहस्रों वर्ष लगते हैं।

च. प्रलय आने पर सबसे पहले प्राणिवर्ग का विनाश होता है।

छ. सृष्टि की वर्त्तमान स्थिति ४ अर्ब ३२ करोड़ वर्ष की होती है और इतना ही समय प्रलय का है। जिसमें आधे समय २ अर्ब १६ करोड़ वर्ष तक विनाश-क्रम और फिर उतने ही समय २ अर्ब १६ करोड़ वर्ष उत्पत्ति क्रम चलता है। यह सारा समय प्रलयकाल में चला जाता है।

ज. जब इस प्रकार ३६००० बार सृष्टि उत्पत्ति और प्रलय हो जाता है, तब सब ब्रह्माण्डों की समाप्ति हो जाती है, जिसे महाप्रलय कहते हैं अर्थात् उस समय सर्वकार्यभूतध्वंस हो जाता है। वायु भी परमाणु रूप हो जाता है। कईयों के मत में आकाश के भी प्रलय होने तक महाप्रलय समझी जाती है। इसी महाप्रलय को परान्तकाल कहते हैं। इतना समय जीव मुक्ति में आनन्द भोगता है।

में अनेक लोक हैं, जो सूर्य को केन्द्र करके परस्पर आकर्पण-विकर्पण से स्थित हैं। यदि एक लोक का प्रलय हो जावे, तो समस्त सौरमण्डल या ब्रह्माण्ड के आकर्पण में अस्त-व्यस्तता हो जावे। इस प्रकार एक ब्रह्माण्ड का ही नहीं, अपितु समस्त ब्रह्माण्डों का विनाश अर्थात् महा प्रलय हो जावे। क्योंकि जैसे एक सौरमण्डल में होने वाले लोक-लोकान्तर में परस्पर आकर्पण-विकर्पण होने से स्थिति है, वैसे ही इस विशाल सृष्टि में सब सौरमण्डलों में परस्पर आकर्पण-विकर्पण होने से ही जगत् की स्थिति है।

ग. प्रलय काल में जिस-जिस भूत तक विनाश होता है, अगली सृष्टि में उसी-उसी भूत-क्रम से उत्पत्ति होती है। जैसे यदि केवल पृथिवी भूत तक का प्रलय हुआ और जल, अग्नि, वायु, (कार्यरूप) बने रहे, तो जल से, यदि पृथिवी, जल एवं दो का प्रलय हो और अग्नि, वायु शेप रहें, तो अग्नि से; यदि पृथिवी, जल एवं अग्नि तीन तत्वों का प्रलय हो और वायु शेप रहे, तो वायु से; और यदि वायु का भी प्रलय (सर्वभूत प्रलय) हो जावे, तो अगली सृष्टि आकाश से बननी आरम्भ होती है।

ग. वायु से अग्नि अग्नि से जल और जल से पृथिवी क्रम से स्थूल होते जाते हैं। वायु के बिना अग्नि, अग्नि के बिना जल और जल के बिना पृथिवी उत्पन्न नहीं हो सकते। (कार्यरूप दृश्य) पृथिवी सबसे स्थूल, जल उससे सूक्ष्म, अग्नि उन दोनों से सूक्ष्म और वायु भूत इन सबकी अपेक्षा सूक्ष्म है। इसी कारण वायु, अग्नि, जल, पृथिवी यह उत्पत्ति क्रम है। और ठीक इसके विपरीत पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, यह विनाश क्रम है। प्रलय काल में सबसे पूर्व पार्थिव विनाश होता है, तदनन्तर जलीय, आग्नेय और वायवीय।

उसका अनन्त सामर्थ्य जगत् की उत्पत्ति स्थिति और प्रलय व्यवस्था करने ही से सफल है। जैसे आँख का स्वभाविक गुण देखना है, वैसे परमेश्वर का स्वभाविक गुण जगत् की उत्पत्ति करके सब जीवों को असंख्य पदार्थ देकर परोपकार करना है।

ग. सृष्टि सकर्तृक है. सृष्टि की रचना देखने से और जड़ पदार्थ में अपने आप यथायोग्य बीजादि स्वरूप बनने का सामर्थ्य न होने से सृष्टि का कर्त्ता ईश्वर अवश्य है।

घ. जो अनादि चिदानन्द ज्ञानस्वरुप सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् सर्वव्यापक परमात्मा जगत् को न बनावे, तो अन्य कौन बना सकता है? जीव में जगत् बनाने का सामर्थ्य नहीं। और जड़ प्रकृति में भी स्वयमेव जगत् रूप बनने का सामर्थ्य नहीं। इसलिये यह सिद्ध हुआ कि परमात्मा ही जगत् को बनाता है। और जैसे वह परमाणुओं से सृष्टि करता है, वैसे मातापिता रूप निमित्त कारण से भी उत्पत्ति का प्रबन्ध-नियम उसी ने किया है।

जगत् का कर्त्ता न मानना और जगत् को स्वयं सिद्ध कहना कितनी बड़ी भूल है। भला विना कर्त्ता के कोई कर्म, कर्म के विना कोई कार्य जगत् में होता हुआ दीखता है? बीज का स्वयं खेत में पड़ जाना, गेहू का स्वयमेव कटना, पिसना और रोटी बनना क्या किसी ने देखा है? कपास, सूत, कपड़ा अंगरखा, दुपट्टा, धोती, साड़ी, कमीज, कोट, टोपी, पगड़ी आदि स्वयमेव बन कर कभी नहीं आते। जब ऐसा नहीं तो ईश्वर कर्त्ता के विना यह विविध जगत् और नाना प्रकार की रचना कैसे बन सकती है?

(१६) क. जो ईश्वर प्रकृति का नियामक और सृष्टि का कर्त्ता धर्त्ता हर्त्ता है, वह परमाणुओं का संयोग-वियोग करके

ख. सृष्टि का प्रयोजन - सृष्टि निमित्त ईश्वर के गुण कर्म स्वभाव का साफल्य तथा प्रकाशन और जीवों के कर्मों का यथावत् भोग करना तथा अपवर्ग प्राप्ति आदि है।

"जो परमेश्वर जगत् को न बनाता, तो स्वयं आनन्द में बना रहता और जीवों को भी सुखदुःख प्राप्त न होता," ये आलसी और दरिद्र लोगों की बातें हैं, पुरुषार्थी सज्जन धार्मिक विद्वानों की नहीं।

१. जीवों को प्रलय में क्या सुख व दुःख है? यदि सृष्टि के सुखदुःख की तुलना की जाय तो सुख कई गुणा अधिक उपलब्ध होता है। जीव को सुख पहुंचाना सृष्टि का प्रयोजन है।

२. यदि सृष्टि न बनती, तो बहुत से पवित्रात्मा जीव मुक्ति के साधन कर मोक्ष के आनन्द को भी प्राप्त न हो सकते।

३. यदि सृष्टि न बनती तो जैसे जीव सुषुप्ति में निकम्मे पड़े रहते हैं, वैसे रहते। जीव के इच्छा-ज्ञान-प्रयत्न गुणों का प्रकाश न हो सकता।

४. यदि सृष्टि न बनती, तो प्रलय के पूर्व की सृष्टि में जीवों के किये पापपुण्यकर्मों का फल ईश्वर कैसे दे सकता और जीव उनका फल क्योंकर भोग सकते?

५. जैसे आँख के होने में देखना प्रयोजन है, वैसे ही ईश्वर में रहने वाले विज्ञान बल और क्रिया का जगत् की उत्पत्ति करने के अतिरिक्त और क्या प्रयोजन है?

६. परमात्मा के न्याय, धारण, दया और गुण भी तभी सार्थक हो सकते हैं, जब वह जगत् को बनावे।

(अर्थात् उस भौतिक मूल तत्त्व प्रकृति से) 'सर्ग स्थिति लय' का नियमित चक्र चलाता है। इसलिये वह सृष्टि का 'चेतन निमित्त कारण' कहाता है।

ख 'सृष्टि और प्रलय' का चक्र दिन रात की तरह 'अनादि और अनन्त' है। परन्तु सूर्योदय से लेकर सूर्यास्त तक प्रसिद्ध दिवस की तरह यह वर्त्तमान सृष्टि सादि सान्त है। अर्थात् जैसे दिन के पूर्व रात और रात के पूर्व दिन, तथा दिन के पीछे रात और रात के पीछे दिन का प्रवाह बराबर चलता आता है, इसी प्रकार सृष्टि के पूर्व प्रलय और प्रलय के पूर्व सृष्टि तथा सृष्टि के पीछे प्रलय और प्रलय के आगे सृष्टि का चक्र प्रवाह अनादि काल से चला आता है। इसका आदि अन्त नहीं। वर्त्तमान सृष्टि को बने लगभग १ अर्व ९६ कोटि वर्ष से अधिक हुए हैं। इसे पचांगों में आर्यसम्वत् अथवा सृष्टि सम्वत् कहा जाता है।

ग प्रलय, अवान्तर प्रलय और महाप्रलय रूप से दो प्रकार की है।

सृष्टिक्रम

क सृष्टि से पहले यह सब जगत् प्रलयावस्था में अन्धकार से *आवृत* (= आच्छादित) था, प्रलयारम्भ के पश्चात् भी वैसा ही होता है। उस समय यह किसी से जानने योग्य नहीं होता।

ख यह सब जगत् सृष्टि के पूर्व असत् के सदृश *था* और ब्रह्म, जीव तथा प्रकृति में लीन होकर वर्तमान था, इस का अभाव नहीं था।

ग उस समय ईश्वर जीव और प्रकृति (जगत् बनाने की सामग्री) विराजमान थी। इस सामग्री (स्थूल जगत् का उपादान

कारण) को *ईश्वर का सामर्थ्य* या सम्पत्ति कहते हैं, इसमें जगत् कारण रूप से वर्तमान था। जब-जब ईश्वर अपने सामर्थ्य से इस काय रूप जगत् को रचता है, तब-तब कार्य जगत् आकार (रूप)·गुण वाला होके स्थूल बनके देखने में आता है।

घ. सत्त्व (शुद्ध, तेजः). रज (मध्य, गति, तरलता) और *तमः* (जड़ता, घनता, स्थिति, स्थूलता) ये तीन मिलकर जो एक *संघात* है, उसका नाम प्रकृति है। यह अविकारिणी, महत्तत्त्व, अहंकार तथा पांच सूक्ष्मभूत इस प्रकृति के कार्य हैं और ये सब इन्द्रियाँ मन तथा स्थूलभूतों के कारण हैं। ईश्वर (पुरुष) न किसी की प्रकृति और न किसी का कार्य है। *यही सत्य स्वरूप त्रिगुणात्मिका प्रकृति सब जगत् का मूल घर* (मूलाधार) *और स्थिति का स्थान है।*

ङ. व्यापक ब्रह्म अपने एकदेश में व्याप्य प्रकृति और परमाणु कारण से मकड़ी (निमित्त कारण) के अपने ही जड़रूप शरीर (तन्तु का उपादान कारण) में से तन्तु निकाल जाला बनाने की तरह स्थूल जगत् को बना (=बाहर स्थूल रूप) कर, आप उसी में व्यापक होकर साक्षिभूत आनन्दमय रहता है।

च. जब सृष्टि का समय आता है, तब प्रथमावस्था में परमात्मा उन परमसूक्ष्म (प्रकृति रूप) कारण के पदार्थों =तत्त्वों को इकट्ठा करके स्थूल बनाता है। उसका नाम *महत्तत्त्व* है।

महत्तत्त्व से स्थूल अहङ्कार पैदा होता है।

अहङ्कार से भिन्न-भिन्न पाच सूक्ष्मभूत (*पचतन्मात्रायें* पच-महाभूतों का सूक्ष्मरूप) और *पंच ज्ञानेन्द्रियाँ, पंच कर्मेन्द्रियाँ* तथा ग्यारहवाँ मन उत्पन्न होते हैं, जो कि अहङ्कार से कुछ स्थूल होते हैं। और—

पंच तन्मात्राओं से अनेक स्थूलावस्थाओं को प्राप्त होते हुए क्रम से *आकाश-वायु-अग्नि-जल-पृथिवी पंचमहाभूत* उत्पन्न होते हैं जिन्हें हम प्रत्यक्ष करते हैं।*

इन स्थूल महाभूतों से नाना प्रकार की *औषधियाँ वृक्ष* आदि, उनसे *अन्न*, अन्न से *वीर्य* और वीर्य से *शरीर* होता है। इसी प्रकार क्रम से मिलकर भूगोलादि परमात्मा ने बनाये।

छ. इस सृष्टि में अनेकानेक करोड़ों भूगोल सूर्य चन्द्र आदि *लोकलोकान्तर* हैं। इन सबका निर्माण, धारण औ नियमों में रखना आदि परमेश्वर के बिना कोई भी नहीं कर सकता। वह इन सब पदार्थों में व्यापक होकर सब को धारण कर रहा है। जगत् में लोकलोकान्तर परस्पर आकर्षण से धारित हैं, परन्तु समस्त जगत् का कारण और आकर्षणकर्त्ता परमेश्वर के सिवाय दूसरा कोई भी नहीं।

* सृष्टि का सबसे सूक्ष्म निरवयव भाग (जिसका और कोई विभाग व काट नहीं किया जा सकता) है, उसका नाम परमाणु। ऐसे साठ परमाणुओं के मिले हुए का नाम अणु, ऐसे दो अणुओं का का द्व्यणुक, तीन द्व्यणुकों का त्र्यणुक (त्रसरेणु) इसी प्रकार चतुरणुक और पंचाणुक आदि स्थूलावस्थाओं में पदार्थ बनते हैं।

पृथिवी जल अग्नि वायु आकाश की उत्तरोत्तर स्थूलता अणु, द्व्यणुक आदि की स्थूलता के समान है। जैसे द्व्यणुक में जितनी स्थूलता है, उतनी ही स्थूलता वायु में है; त्र्यणुक जितनी अग्नि में; चतुरणुक जितनी जल में और पंचाणुक जितनी पृथिवी में। इस प्रकार से दृश्य पदार्थ होते हैं।

होती है, उसी प्रकार राजराजेश्वर दयालु न्यायकारी सर्वज्ञ परमात्मा की वेदोक्त नीति अपने सृष्टिरूप सब राज्य में एकसी है।

ङ. कल्पकल्पान्तर में भी ईश्वर एक जैसी सृष्टि बनाता है, विलक्षण-विलक्षण नहीं अर्थात् भेद नहीं करता। जैसी कि अब है, वैसी पहले थी और आगे होगी। जैसे पूर्वकल्प में जिस क्रम व रीति से सूर्य, चन्द्र, विद्युत, पृथिवी, अन्तरिक्ष आदि को बनाया था और जैसे उस समय वेदों का प्रकाश किया था, वैसे ही उसने अब बनाया है और आगे भी वैसे ही बनावेगा। क्योंकि जो अल्पज्ञ और जिसका ज्ञान वृद्धि-क्षय को प्राप्त होता है उसी के काम में भूल-चूक एवं परिवर्तन-संशोधन होते हैं। ईश्वर के काम बिना भूल-चूक के होने से सदा एकसे ही हुआ करते हैं।

✓आवागमन प्रेत्यभाव

(१७) कर्मफलानुसार इस जीव के नाना योनियों में (अर्थात् एक शरीर को छोड़ दूसरे में जन्म लेने) आने-जाने का नाम 'आवागमन' है। एक देह से अन्य देह का धारण करना 'पुनर्जन्म' है। इस प्रकार जन्म-जन्मान्तर में आवागमन का कारण जीव के अपने कर्म ही हैं। इस संसार में सुखी-दुःखी, धनी-निर्धन, और निर्बल-सबल रूप दृष्टिगोचर होने वाले वैषम्य का कारण जीवों के भिन्न-भिन्न कर्म ही हैं, ईश्वर की इच्छा नहीं।

✓कर्म सिद्धान्त

(१८) क. कर्म—क्रिकरण अर्थात् मन, इन्द्रिय और शरीर के द्वारा जीव जो चेष्टा विशेष करता है, वह कर्म कहाता है। *शुभ अशुभ और मिश्र भेद से कर्म तीन प्रकार का है।*

ख. जीव को, जैसा वह कर्म करता है, वैसा फल (अर्थात् उसके शुभाशुभ कर्म का सुखदुःखात्मक फल) न न्यून न अधिक अवश्यमेव भोगना पड़ता है। ईश्वर पापों को क्षमा नहीं करता।*

ग. अन्य मनुष्य के किये पाप पुण्य अन्य को नहीं प्राप्त हो सकते, किन्तु कर्त्ता ही अपने शुभाशुभ कर्म का फल स्वयं भोगता है।

---

* क्योंकि जो ईश्वर अपने भक्तों के पाप क्षमा करे, तो उसका न्याय ही नष्ट हो जाय और सब मनुष्य पापी हो जायें, क्योंकि क्षमा की बात सुन ही के उनको पाप करने में निर्भयता और उत्साह हो जाय।

साधारणतः यह माना जाता है कि दण्ड का मुख्य प्रयोजन अपराधी का सुधार और कुकर्मों को रोकना है। अपराध का दण्ड मनुष्यों को भयभीत करता है और अपराध के फैलने को रोकता है यदि दंड दिये बिना भविष्य के लिए ऐसा हो जावे तो बहुत अच्छा है। पहले तो यह कि ऐसा होता नहीं, क्योंकि जब तक दण्ड न मिले किसी काम का बुरा रूप दीखता ही नहीं. बुराई का परिणाम भयङ्कर होगा इसका अन्दाजा ही नहीं लग सकता।

दूसरे, दार्शनिक विचार भूतकाल की ओर भी देखता है। पाप करके पापी ने धर्म के नियम और हितकारी सामाजिक विधानों को तोड़ा है, न्याय को चैलेंज किया है और अपने कर्म से यह प्रगट करना चाहा है कि धर्म का नियम संसार में राज्य नहीं करता। इस दशा में उसके इस दावे को झूठा साबित करना आवश्यक है। सत्य तो यह है कि ऐसा करने पर ही उसका सुधार हो सकता है और समाज भी पापों व अपराधों से बच सकता है। दण्ड का वज्र अपराधी व पापी पर गिरना चाहिए।

घ. पूर्व जन्म में कृत कर्मों में से जिन कर्मों के सुखदुःख रूप फल वर्त्तमान देह के द्वारा भोगना प्रारम्भ होता है, अर्थात् जिन कृतकर्मों को भोगने के लिये यह शरीर प्रारम्भ हुआ है, वे कर्म *प्रारब्ध*, वर्त्तमान जन्म में फलापेक्षा के साथ किये जाते कर्मों का नाम *क्रियमाण*, और जिनका फल भोगना शेष रहा है, वे *संचित* कर्म कहाते हैं, तथा जो क्रियमाण कर्म का सस्कार मनुष्य के आत्मा (अन्तः करण) में जमा होता है, उसको वासना या *संस्कार* कहते हैं।

भविष्य जीवन के लिये फलापेक्षया किये जाने वाले कर्मों का नाम भी संचित कर्म होता है।

ङ. प्रत्येक कर्म का दो प्रकार का फल होता है, कार्यरूप और उद्दिष्ट रूप। जैसे हल चलाने का कार्यरूप फल है बीज पड़ने योग्य भूमि का खुद जाना, उद्दिष्ट फल है, कालान्तर में धान्यप्राप्ति। पठनकर्म का कार्यरूप फल है ग्रन्थसमाप्ति व ग्रन्थ बोध, उद्दिष्ट फल है, परीक्षा में उत्तीर्ण होना। यह उद्दिष्ट फल उसके आधीन नहीं।

च. प्रत्येक कर्म का उद्दिष्ट फल तत्काल मिले, ऐसा *नियम* नहीं है।

(१६) क. "*पुरुषार्थ प्रारब्ध से बड़ा है*" क्यों कि इससे संचित और प्रारब्ध कर्म बनते हैं, इसके सुधरने से सब सुधरते और बिगड़ने से सब बिगड़ते हैं।

ख. *पुरुषार्थ* की सिद्धि के लिये मन, शरीर और वाणी से अर्थात् सर्वथा आलस्य छोड़ के उत्तम व्यवहारों अत्यन्त प्रयोग करने को पुरुषार्थ कहते हैं।

ग. पुरुषार्थ के भेद— अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति की इच्छा करना, प्राप्त को अच्छे प्रकार रक्षण करना, रक्षित को बढ़ाना और बढ़े हुये पदार्थों का सत्यविद्या की उन्नति तथा सब के हित करने से खर्च करना रूप से चार प्रकार का पुरुपार्थ कहाता है।

ङ. ईश्वर ने मनुष्यों में जितना सामर्थ रखा है, धर्मानुष्ठान में उतना पुरुपार्थ ईश्वर प्रार्थना द्वारा मनुष्य को करना चाहिये। इसके उपरान्त ईश्वर के सहाय की इच्छा करनी चाहिये। मनुष्यों में सामर्थ्य रखने में ईश्वर का यही प्रयोजन है कि मनुष्य अपने पुरुपार्थ से ही सत्य का आचरण करे। पुरुषार्थ रहित पुरुष पर ईश्वर भी कृपा नहीं करता। जैसे कोई मनुष्य किसी आंख वाले पुरुष को ही कोई चीज दिखला सकता है, अन्धे को नहीं।

ईश्वर ने धर्म करने के लिये बुद्धि आदि बढ़ने के साधन जीव के साथ रक्खे। जब जीव उनसे पूर्ण पुरुपार्थ करता है और इसी रीति से सत्यभाव पुरुपार्थ से धर्म को करना चाहता है, तब परमेश्वर भी अपने सब सामर्थ्य से उस पर कृपा करता है, अन्य पर नहीं।

केवल प्रारब्ध पर बैठे रहना मनुष्य का लक्षण नहीं, पुरुपार्थ करना आवश्यक है।

घ. कर्मफल— जाति आयु भोग रूप में प्राप्त होता है। पुरुपार्थ आयु तथा भोग में किंचित्परिवर्त्तन भी कर सकता है।

त्रैतवाद

(२०) क. आर्यसमाज की दृष्टि में सृष्टि या ब्रह्माण्ड के तीन मूल कारण हैं। जिनमें १. प्रकृति उपादानकारण जड़ पदार्थ है और भोगने योग्य है, २. जीव साधारण कारण कर्त्ता भोक्ता

चेतन है पर वह अल्पज्ञ है, ३. परमेश्वर निमित्त कारण सृष्टि-कर्त्ता व्यवस्थापक साक्षी चेतन है। तीनों स्वरूप से अनादि, अनन्त, (परन्तु ईश्वर के ज्ञान में संख्येय) नित्य हैं, अर्थात् इनकी स्वतन्त्र पृथक् सत्ता है। जो नित्य पदार्थ हैं, उनके गुण कर्म स्वभाव भी नित्य होते हैं। प्रकृति सत्स्वरूप है, जीव सच्चित स्वरूप और ईश्वर सच्चिदानन्द स्वरूप है।

ख. ईश्वर और जीव से *भिन्न कोई चेतन शक्ति* (देवी देवता जिन भूत आदि) नहीं है। ईश्वर विरोधी शैतान नामक कोई पदार्थ या शक्ति भी नहीं है।

ग. जो न कभी उत्पन्न हुआ हो, जिसका कारण कोई भी न होवे अर्थात् जो सदा से स्वयंसिद्ध (=स्वयम्भू) हो, वह अनादि कहाता है।

घ. *प्रवाह से अनादि पदार्थ* जो कार्यजगत्, जीव के कर्म और इनका (=सृष्टि और जीव का परस्पर) संयोग-वियोग है, ये तीन परम्परा अर्थात् प्रवाहक्रम से अनादि हैं।

जीवेश्वर सम्बन्ध

(२१) क. जीव और ईश्वर का संयोगसम्बन्ध नहीं, परन्तु क्यों कि जीव अल्प अर्थात् सूक्ष्म और परमेश्वर सूक्ष्मात्सूक्ष्मतर है, इसलिये दोनों का व्याप्यव्यापक सम्बन्ध ही है। जैसे लोहा स्थूल और अग्नि सूक्ष्म होता है, इस कारण से लोहे में विद्युत अग्नि व्यापक होकर एक ही अवकाश में दोनों रहते हैं, वैसे ही जीव परमेश्वर से स्थूल और परमेश्वर जीव से सूक्ष्म होने से परमेश्वर व्यापक और जीव व्याप्य है। जैसे यह व्याप्यव्यापक सम्बन्ध जीव ईश्वर का है, वैसे ही सेव्यसेवक, आधाराधेय स्वामिभृत्य, राजाप्रजा तथा पितापुत्र आदि सम्बन्ध भी हैं।

ख. जीव व्याप्य है, ईश्वर व्यापक है। इस लिये दोनों व्याप्यव्यापकभाव से अभिन्न (=सम्मिलित) हैं अथवा अत्यन्त सयुक्त हैं। चेतनता, सत्ता ये दोनों गुण जीवेश्वर के समानधर्म हैं, इस साधर्म्य से भी दोनों *अभिन्न* हैं (=एक से हैं)।

जीव के स्वरूप और गुण अणुत्व, अल्पज्ञता हैं, ईश्वर के विभुत्व और सर्वज्ञत्वादि हैं। जीव राग-द्वेष से युक्त है, ईश्वर उनसे रहित है। इसलिये भिन्न स्वरूप और विरुद्ध गुणों के कारण दोनों *भिन्न* हैं।

ग. इस प्रकार जीव और ईश्वर अपने-अपने स्वरूप व वैधर्म्य से भिन्न हैं, तथा व्याप्यव्यापक भाव एवं साधर्म्य से अभिन्न हैं। जैसे आकाश से मूर्त्तिमान् द्रव्य स्वरूप और वैधर्म्य से न कभी एक था, न है, न होगा अर्थात् भिन्न है; वैसे ही परमेश्वर और जीव न कभी एक थे, हैं, न होंगे अर्थात् सर्वथा भिन्न हैं। तथा जैसे मूर्त्तिमान् द्रव्य और आकाश व्याप्यव्यापक होने से अभिन्न (=निरन्तर सम्बद्ध) हैं और द्रव्यत्व, गुणवत्त्व, सत्तावत्व आदि साधर्म्य से भी अभिन्न हैं, वैसे ही जीव और ईश्वर व्याप्यव्यापक भाव तथा चेतनता, सत्ता आदि साधर्म्य से अभिन्न (=निरन्तर सम्बद्ध) हैं।

जीवेश्वर भेद

(२२) जीव और ईश्वर दोनों चेतन स्वरूप हैं। स्वभाव दोनों का पवित्र अविनाशी और धार्मिकता आदि है। परन्तुः -

१ सृष्टि की उत्पत्ति स्थिति प्रलय, सब को नियमों में रखना, जीवों को पाप पुण्य के फल देना आदि परमेश्वर के धर्मयुक्त कर्म हैं। और सन्तानोत्पत्ति, उनका पालन, शिल्पविद्यादि *जीव* के अच्छे-बुरे कर्म हैं।

२. ईश्वर के नित्यज्ञान आनन्द अनन्तबल आदि गुण हैं, और जीव के इच्छा द्वेष प्रयत्न सुख दुख ज्ञान आदि गुण हैं।

३. तृषा हर्ष शोकादि युक्त होना ये जीवात्मा के परमात्मा से भिन्न गुण हैं।

४. *ब्रह्म नित्य* शुद्ध बुद्ध मुक्तस्वभावयुक्त है और जीव कभी बद्ध और कभी मुक्त होता है।

५. *परमेश्वर* अतीव सूक्ष्मात्सूक्ष्मतर, अनन्त सर्वव्यापक सर्वशक्तिमान् और सर्वज्ञ है, जीव शरीर में भी एक देश में परिच्छिन्न, अल्प (=सूक्ष्म) अल्पज्ञ है।

६. *ब्रह्म* को सर्व-व्यापक सर्वज्ञ होने से भ्रम व अविद्या कभी नहीं होते और जीव को कभी विद्या और कभी भ्रम व अविद्या होते हैं।

७. *ब्रह्म* जन्म-मरण दुःख को कभी प्राप्त नहीं होता और जीव प्राप्त होता है।

८. *ईश्वर* जीव को उसके कर्मों का फलप्रदाता और सृष्टि का उत्पादक, पालक एवं संहारक है। जीव कर्मों का कर्त्ता और फल-भोक्ता है।

९. ईश्वर भूत, भविष्यत, वर्तमान के ज्ञान और फल देने में स्वतंत्र और जीव किंचित् वर्तमान के ज्ञान और कर्म करने में स्वतंत्र है।

(२३) क. *यह जगत्‌रूप खेल-तमाशा* (=जगत् व्यापार, सृष्टि-विलास) इन तीनों के कारण से होता है। यदि इनमें से एक को भी निकाल दें, तो यह विशाल ब्रह्माण्ड कभी न बन सके। यह *'दृश्यमान प्रपंच'* स्वप्नवत् *मिथ्या*, या शुक्ति में रजतवत्, या रज्जु में सर्पवत् भ्रान्तिमात्र नहीं है; यह किसी के *'लीलाविलास'* मात्र से अथवा *'कुन'* (अर्थात् हो जा) कहने मात्र से पैदा नहीं

हुआ। इसी प्रकार '*विवर्तवाद*' या '*अभाव से भाव*' (= असत् से सत्, नेस्ति से हस्ती या शून्यवाद) के सिद्धान्त भी युक्तिविरुद्ध अनुभवविरुद्ध व अवैदिक होने से मान्य नहीं। जड़वादियों (= भौतिक-वादियों) का इसे '*जड़ का रूपान्तर*' मानना और चेतनवादियों (अध्यात्मवादियों) का इसे '*चिद्विलास*' (= केवल चेतन का रूपान्तर) मानना विज्ञान, बुद्धि और अनुभव के विरुद्ध है। क्योंकि यह विश्व जड़-चेतन दोनों का मेल है, इसलिये किसी एक तत्व जड़ या चेतन का रूपान्तर नहीं हो सकता। यदि ऐसा मानें, तो प्रश्न होगा कि एक से अनेक कैसे और क्यों हो गये? परस्पर विरुद्ध गुण, कर्म, स्वभाव वाले जड़ और चेतन, एक कैसे हो सकते हैं!

ख. ब्रह्माण्ड की रचना व इस की अवयव भूत सभी वस्तुयें सूर्य, चन्द्र, पृथिवी, ग्रह, नक्षत्र आदि नियम से चलते हैं। संसार में ऐसी कोई चीज़ नहीं, जिसे जादू और ऐसी कोई घटना नहीं जिसे *मोजज़ा या चमत्कार* * कह सकें। सब घटनायें सृष्टि के नियमों के अनुकूल ही होती हैं। ये सृष्टि नियम कभी बदलते नहीं; सदा एक से रहते हैं। ब्रह्माण्ड में होने वाली घटनायें *कार्यकारण* भाव से घटित होती हैं। इस कार्यकारण के सम्बन्ध को ठीक न जानने वालों को ही ये जादू या लीला प्रतीत होती है।

(२३) क. कर्त्ता—जो स्वतन्त्रता से कर्मों का करने वाला है अर्थात् जिसके स्वाधीन अन्य साधन होते हैं, और जो कारण को कार्य रूप बनाने वाला है, वह कर्त्ता कहाता है। सृष्टि का कर्त्ता ईश्वर है।

ख. *कारण*—जिसके ग्रहण किये बिना कोई कार्य व चीज़ बन

* सृष्टि नियमों का तोड़ना मोजज़ा या चमत्कार कहलाता है।

नहीं, सकते अर्थात् जिससे उत्पन्न होता है, वह कारण कहाता है। अथवा जो प्रथम संयोग में मिलने और मिलाने वाला पदार्थ है, जो संयोग का आदि और वियोग का अन्त अर्थात् जिसका विभाग नहीं हो सकता, वह कारण कहाता है।

जगत् के तीन कारण होते हैं, एक निमित्त, दूसरा उपादान और तीसरा साधारण।

निमित्त कारण—उसको कहते हैं, जिसके बनाने से कुछ बने और न बनाने से न बने! आप स्वयं बने नहीं, दूसरे को प्रकारान्तर बना देवे। यह दो प्रकार का होता है–

१. एक–सब सृष्टि को कारण से बनाने, धारने और प्रलय करने तथा सब की व्यवस्था रखने वाला मुख्य निमित्त कारण परमात्मा आदिनिमित्त या प्रथमकर्त्ता।

२. दूसरा – परमेश्वर की सृष्टि में से पदार्थों को लेकर अनेकविध कार्यान्तर बनाने वाला साधारण निमित्त कारण जीव। अर्थात् जिसके लिए सृष्टि बनाई जाय और जो सृष्टि के भौतिक पदार्थों को नैमित्तिक विकार्य रूप दे, जैसे बढ़ई आदि।

उपादान कारण–उसको कहते हैं, जिसको ग्रहण करके ही कार्य उत्पन्न होवे अथवा कुछ बनाया जा सके। अर्थात जिसके विना कुछ न बने, वही अवस्थान्तर होके बने और बिगड़े भी। उसी से उत्पत्ति, उसी में विनाश तथा कार्य में कारण सदा रहे। प्रकृति परमाणु रूप संसार के बनने की सामग्री है। इसको ग्रहण किये विना जगत् नहीं बन सकता। यह जड़ होने से आप से आप न बन और न बिगड़ सकती है, किन्तु दूसरे (=ईश्वर) के बनानेसे (जगद् रूप में) बनती और बिगाड़ने से बिगड़ती है।

साधारण कारण—उसको कहते हैं, जो बनाने में साधन और साधारण निमित्त हो। जब कोई वस्तु बनाई जाती है, तब जिन

जिन साधनों से अर्थात् ज्ञान, दर्शन, बल हाथ एवं नाना प्रकार के साधन, दिशा काल और आकाश, दण्ड-चक्र, प्रकाश, आँख, क्रिया आदि बनते समय घड़े के साधारण कारण होते हैं।

इन तीन कारणों के बिना कोई भी वस्तु नहीं बन सकती। और नहीं बिगड़ सकती। जैसे घड़े को बनाने वाला कुम्हार निमित्त, मिट्टी उपादान और दण्ड-चक्रादि तथा दिशा काल आकाश प्रकाश आँख हाथ ज्ञान क्रिया आदि साधारण कारण हैं।

ग. *कार्य*—जो उत्पन्न होता है अर्थात् जो किसी (उपादान कारणभूत) पदार्थ के संयोग विशेष से स्थूल होके काम में आता है (जो किये जाने के योग्य है, अथवा जो संयोग के पीछे बनता और वियोग के पश्चात् वैसा नहीं रहता। वह कार्य कहाता है।

घ. कारण का कारण, कार्य का कार्य, कर्त्ता का कर्त्ता, साधन का साधन और साध्य का साध्य नहीं होता। क्या आँख की आँख, दीप का दीपक और सूर्य का सूर्य कभी हो सकता है ?

ज्ञान का आदिस्रोत

(२४) क. आर्यसमाज *'ऋग् यजुः साम अथर्व'* नाम से प्रसिद्ध सत्यविद्याधर्मयुक्त वेदचतुष्टय (संहितामात्र मंत्रभाग) को निर्भ्रान्त स्वतःप्रमाण मानता है। इनके प्रमाण होने में किसी अन्य ग्रन्थ की अपेक्षा नहीं। इनसे मनुष्यों को सत्यासत्य का ज्ञान होता है। सूर्य व प्रदीप के स्वरूपतः स्वतः प्रकाशक व अन्य पृथिव्यादि पदार्थों के प्रकाशक होने की तरह वेद स्वयं प्रमाण-रूप हैं। ये अपौरुषेय हैं +। क्योंकि:—

(१) उनमें प्रतिपादित सिद्धान्त सार्वभौमिक सार्वजनिक

+ देखो 'वेदों की अन्तः साक्षी का महत्व' लेखक विरचित।

और सार्वकालिक हैं। ये किसी देश काल विशेष में मानवजाति के किसी विशिष्ट समुदाय के निमित्त प्रकाशित नहीं किए गए।

(२) मनुष्य के सर्वतोमुख विकास के साधनों के द्योतक हैं।

(३) इनमें वर्णित कोई भी सिद्धान्त, बुद्धि विज्ञान व अनुभव के विरुद्ध नहीं। ये पक्षपातशून्य भ्रान्तिरहित ज्ञान का प्रतिपादन करते हैं।

(४) इनमें सृष्टिक्रम, प्रत्यक्षादि प्रमाण, आप्त और पवित्रात्मा के व्यवहार से विरुद्ध कोई कथन नहीं।

(५) इनमें ईश्वर के गुण कर्म स्वभाव के अनुकूल वर्णन है। ×

(६) सृष्टि के आरम्भ से लेके आज पर्यन्त ब्रह्मादि जितने भी आप्त होते आये हैं, वे सब वेदों को नित्य और प्रामाणिक मानते आये हैं।

ख भारत भूमि में रचित वेदभिन्न साहित्य को आर्ष (ऋषि प्रणीत, आप्तोपदिष्ट) व अनार्ष (स्वार्थी धूर्तजन विरचित) दो भागों में बांट (ब्रह्मादि महर्षियों, मनु जैमिनी से लेकर दयानन्द ऋषि पर्यन्त) आप्तोपदिष्ट (वेदों के व्याख्यान रूप) आर्ष ग्रन्थों को, आर्य परम्परानुसार वेदानुकूलतया ही प्रमाण मानता है। इसलिये ये सब ग्रन्थ पौरुषेय होने से परतः प्रमाण हैं। इनमें यदि कहीं वेदविरुद्ध वचन हैं, वे अप्रमाण हैं।

ग. *मान्य ग्रन्थ*—सब से अधिक प्रामाणिक और मानने योग्य धर्मशास्त्र तो चार वेद हैं, उनसे विरुद्ध वचन चाहे किसी भी पुस्तक में पाये जायँ वे मानने योग्य नहीं हो सकते।

× तथा भारत के ऋषि मुनियों ने भी एक स्वर से इन्हें अपौरुषेय माना है। बहुत सार आधुनिक पाश्चात्य वैदिक विद्वान भी इसी मत के हैं।

घ. प्रक्षेप — समय-समय पर पुराने ऋषियों के नाम से स्वार्थान्ध लोगों ने आर्ष ग्रन्थों में बहुत प्रक्षेप कर दिये हैं, इनमें से बहुत भाग निकाल भी दिये हैं और मिथ्यावादों से पूर्ण नये ग्रन्थ रच डाले हैं। इन प्रक्षिप्त भागों व ऐसे कपोलकल्पित अनर्थगाथा युक्त नवीन ग्रन्थों का त्यागना ही श्रेष्ठ है।

ङ. एतद्भिन्न (आर्ष व आप्तोपदिष्ट) विश्वसाहित्य को यथायोग्य आदर की दृष्टि से देखता हुआ उनमें निर्दिष्ट तर्क और अनुभव द्वारा प्रतिष्ठित विज्ञानसिद्ध व वेदानुकूल अंश ही प्रामाणिक अंगीकार करता है। विज्ञानसिद्ध एवं तर्क प्रतिष्ठित प्रत्येक सत्य विषय को यथार्थ स्वीकार करता है, चाहे वह किसी ने किसी भी समय में किसी भी देश या परिस्थिति में क्यों न कहा हो।

(७४) क. सर्वज्ञ ईश्वर ने इन वेदों का ज्ञान पूर्व सृष्टि में जिन जीवों के गुण कर्म स्वभाव सब से पवित्र थे और जब मानव सृष्टि बनी उस समय अयोनिज सृष्टि में जन्म लेने वाले पवित्रात्मा चार ऋषियों के हृदयों में प्रकाशित किया, क्योंकि वे उस ज्ञान के बिना सीख-समझ नहीं सकते थे कि धर्माधर्म कर्त्तव्याकर्त्तव्य क्या हैं? और वे ही उस उपदेश को हृदयस्थ रूप में ग्रहण कर सकते थे।*

१—जो पवित्रात्मा ज्ञानमें विशेष बढ़ा हुआ था, उसको ऋग्वेद का प्रकाश मिलता है और इसी कारण उसको अग्नि नाम दिया जाता है।

२—जो पवित्रात्मा कर्मकाण्ड में विशेष निपुण था, उसको यजुर्वेद का ज्ञान दिया जाता है और उसको वायु नाम दिया जाता है।

३—जो उपासना में विशेष योग्यता रखता था, उस पर सामवेद का प्रकाश होता है और उसका आदित्य नाम पड़ता है।

अग्नि ऋषि को ऋग्वेद
वायु ऋषि को यजुर्वेद
आदित्य ऋषि को सामवेद
अंगिरा ऋषि को अथर्ववेद

इन ऋषियों ने वेदों के ज्ञान का अन्य ऋषियों और मनुष्यों को उपदेश दिया।

ख. यदि सृष्टि के आरम्भ में ईश्वर ज्ञान न देता तो मानव जाति को ज्ञान न होता। और न धारा रूप में ज्ञान आगे चढ़ता। यदि पीछे ज्ञान देता तो पूर्वसृष्टि उसके लाभ से वंचित रहती

ग. बीच-बीच में अपने ज्ञान देने की आवश्यकता नहीं क्योंकि उस सर्वज्ञ ईश्वर का ज्ञान पूर्ण है, ज्ञान परम्परा से चलता है और जीव एक बार सीख कर उससे अपनी बुद्धि का स्वतन्त्र विकास करता है। जब तक हमें सिखाने वाला न हो, तब तक हम लिख-पढ़, सीख-समझ नहीं सकते। सर्गारम्भ में सर्वज्ञ ईश्वर के सिवा कौन मनुष्यों को ज्ञान दे सकता है? सर्ग मध्य में आप्त स्वयं ज्ञान प्रसार कर सकते हैं।*

४—जो संशयरहित पूर्ण वैज्ञानिक था, उस पर अथर्ववेद का आविर्भाव होता है और उसका नाम अंगिरा होता है।

ये चारों व्यक्तिविशेष नहीं, किन्तु विशेष व्यक्ति होते हैं। जब-जब सृष्टि होती है, तब-तब पूर्व सृष्टि के सब पवित्रचार आत्माओं को वर्तमान सृष्टि की अयोनिज उत्पत्ति के समय वेद का पवित्र ज्ञान हृदयस्थ रूप में दिया जाता है। चाहे वे चार कोई हों अग्नि, वायु, आदित्य और अंगिरा नाम यौगिक होते हैं, व्यक्तिविशेष वाचक नहीं। सब ही सृष्टियों में ये ही नाम दिये जाते हैं।

* जो आकाशादि से भी बड़ा सर्वव्यापक सर्वज्ञ परमेश्वर है, उससे ही चारों वेद उत्पन्न हुए हैं। जैसे मनुष्य के शरीर से श्वास बाहर

(२६) क. वेद ज्ञान का भण्डार है, संसार भर की विद्यायें वेदों से ही निकली हैं। जैसे प्रकृति के सब पदार्थों का उपभोग करने का सब को समान अधिकार है, वैसे ही उसके ज्ञान के प्राप्त करने अर्थात् पढने-पढ़ाने का अधिकार भी सब नर-नारियों को है।

ख. वेद का भाषा लौकिक सस्कृत नही हैं, किन्तु 'देववाणी' वैदिक संस्कृत हैं, जो कि भाषाविज्ञान की दृष्टि,से भी संसार की समस्त भाषाओं की जननी है, अर्थात् आदिस्रोत मूल आधार है।

को आकर फिर भीतर को जाता है, वैसे ही सृष्टि के आदि में ईश्वर वेदों को उत्पन्न करके संसार में ज्ञान का प्रकाश करता है और प्रलय में वेद इस रूप में न रहकर बीजाङ्कुरवत, उसके ज्ञान में बने रहते हैं। जैसे बीज में अंकुर प्रथम ही रहता है, वहीं अंकुर वृक्ष रूप होने के बाद भी बीज के भीतर रहता है, वैसे ही वेद भी ईश्वर के ज्ञान में सब दिन बने रहते हैं, उनका नाश कभी नही होता, वे नित्य हैं।

यह बात निश्चित है कि ईश्वर के दिये उपदेश (वेद) के पढने और ज्ञान के विना किसी मनुष्य को यथार्थ ज्ञान व कोई भी मनुष्य विद्वान् व किसी मनुष्य को ग्रन्थ रचने का सामर्थ्य भी नहीं हो सकता। जैसे मानवों के भाषणादि व्यवहार के सम्पर्क से दूर एकान्त में रखने से एक बालक को कुछ भी यथार्थ ज्ञान न बोलचालादि का व्यवहार नहीं आता और जैसे वनों में रहने से विना उपदेश के कारण मनुष्यों की प्रवृत्ति पशुओं की नाईं देखने में आती है, वैसे ही वेदों के उपदेश के बिना सृष्टि के आदि से लेकर आज-तक सब मनुष्यों की प्रवृत्ति होती। जैसे इस समय किसी शास्त्र को पढ के किसी का उपदेश सुनके और मनुष्यों के परस्पर व्यवहारों को देखकर ही सब मनुष्यों को ज्ञान होता है, ग्रन्थ रचने का सामर्थ्य होता है, अन्यथा नहीं, वैसे

ग. वेदों में किसी व्यक्ति, देश या जाति विशेष का इतिहास नहीं, इनमें तो सृष्टि का (= सर्ग प्रतिसर्ग का) नित्य इतिहास है। इनमें बहुत से ऐसे शब्द आए हैं जो मनुष्यों, स्थल व नदियों के नाम से प्रतीत होते है; किन्तु उनके नित्य सत्यार्थ और हैं। वेदों में अधिकांश शब्द यौगिक हैं या योगरूढ़ि हैं, रूढ़ि नहीं।

घ. वेदों में इन्द्र, + अग्नि, वरुण आदि शब्द कहीं ईश्वर के

ही सृष्टि के आदि में यदि यह उपदेश न होता तो आज पर्यंत किसी मनुष्य को धर्मादि पदार्थों की यथार्थ विद्या न आती। दूसरे सृष्टि के आरम्भ में पढ़ने और पढ़ाने की कुछ भी अवस्था नहीं थी और न कोई विद्या का ग्रन्थ ही था, इसलिये ईश्वर का वेदों का ज्ञान देना आवश्यक था।

यह ईश्वर की विद्या है। विद्या का गुण स्वार्थ और परार्थ दोनों सिद्ध करता है। परमेश्वर हमारे माता-पिता के समान हैं, हम उसकी प्रजा हैं। वह हम पर नित्य कृपा दृष्टि रखता है, सदैव करुणा धारण करता है कि सब प्रकार से हम सुख पावें। इससे ही उसने वेदों का उपदेश हमें दिया है और अपनी विद्या के परोपकार गुण की सफलता सिद्ध की है। जो परमेश्वर अपनी वेद विद्या का उपदेश मनुष्यों के लिये न करता, तो धर्म अर्थ काम और मोक्ष की सिद्धि किसी को यथावत् प्राप्त न होती, उसके बिना परम आनन्द भी किसी को न होता। जैसे उस परम कृपालु ईश्वर ने प्रजा के सुख के लिये कन्द-मूल फल और घास आदि छोटे-छोटे भी पदार्थ रचे हैं, वैसे ही सब सुखों का प्रकाश करने वाली, सब सत्य विद्याओं से युक्त वेद विद्या का उपदेश भी प्रजा के सुख के लिये वह क्यों न करता?

+ बहुदेवतावाद और एकेश्वरवाद में भेद है। वेद में नाना 'देवताओं' अर्थात् भौतिक व अभौतिक शक्तियों का वर्णन है। परन्तु अनेक 'ईश्वरों' का वर्णन नहीं। देवता का अर्थ ईश्वर नहीं है।

लिए आए हैं और कहीं भौतिक पदार्थों जैसे अग्नि जल आदि और कहीं-कहीं मनुष्यों के लिए ⊛। प्रकरणानुसार पूर्वापर संगति से इसका ज्ञान हो जाता है।

वेद विषय

ङ चारों वेदों में ऐसा कहीं नहीं लिखा, जिससे अनेक ईश्वर सिद्ध हों; किन्तु यह तो लिखा है कि ईश्वर एक है। वेद के शब्दों में "वह न दूसरा है, न तीसरा है, न चौथा है... न दसवां कहा जाता है। वह एक है, एक है, एक ही है।" (अथर्व का० १३ सू० ४)

च. वेदों का मुख्य तात्पर्य परमेश्वर ही के प्राप्त कराने और प्रदिपादित करने में है। इस लोक और परलोक के व्यवहारों के फलों की सिद्धि और यथावत् उपकार करने के लिए सब मनुष्यों को वेदों के विज्ञान, कर्म, उपासना और ज्ञान इन चार विषयों के अनुष्ठानों में पुरुषार्थ करना चाहिए। यही मनुष्य-देह धारण करने का फल है।

छ. वेदों में अवयव (=गौण) रूप विषय तो अनेक हैं, परन्तु उनमें से चार मुख्य हैं:—

(१) *विज्ञान काण्ड*—उसको कहते हैं कि सब पदार्थों का यथार्थ जानना अर्थात् परमेश्वर से लेके तृण पर्यन्त पदार्थों का साक्षात बोध होना और उनसे यथावत् उपयोग लेना व करना। यह विषय इन चारों में भी प्रधान है, क्योंकि इसी में वेदों का मुख्य तात्पर्य है। परिणामतः विज्ञान दो प्रकार का है—

क. परमेश्वर का यथावत् ज्ञान और उसकी आज्ञा का बराबर पालन करना।

⊛ ऐतिहासिक व्यक्तियों के लिए नहीं।

ख. उसके रचे हुए सब पदार्थों के गुणों को यथावत् विचार करके उनसे कार्य सिद्ध करना अर्थात् कौन-कौन से पदार्थ किस किस प्रयोजन के लिए रचे हैं, इसका जानना।

२ कर्म काण्ड—यह सब क्रिया प्रधान ही होता है। इसके विना विद्याभ्यास और ज्ञान पूर्ण नहीं हो सकते। क्योंकि बाह्य व्यवहार तथा मानस व्यवहार का सम्बन्ध बाहर और भीतर दोनों के साथ होता है। वह अनेक प्रकार का है, किन्तु उसके दो मुख्य भेद हैं—

क एक परमार्थ मार्ग। इससे परमार्थ की सिद्धि करनी होती है। इसमें ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना, उपासना, उसका आज्ञापालन, न्यायाचरण अर्थात् धर्म का ज्ञान और अनुष्ठान यथावत् करना। मनुष्य इसके द्वारा मोक्ष प्राप्ति में प्रवृत्त होता है।

जब मोक्ष अर्थात् केवल परमेश्वर की ही प्राप्ति के लिए धर्म से युक्त सब कर्मों का यथावत् पालन किया जाय तो यही निष्काम मार्ग है, क्योंकि इसमें संसार के भोगों की कामना नहीं की जाती। इसका फल सुखरूप और अक्षय होता है।

ख दूसरा मार्ग लोकव्यवहार सिद्धि। इससे धर्म के द्वारा अर्थ काम और उनकी सिद्धि करने वाले साधनों की प्राप्ति होती है। यह सकाम मार्ग है, क्योंकि इसमें संसार के भोगों की इच्छा में धर्मानुसार अर्थ और काम का सम्पादन किया जाता है। इस लिए इसका फल नाशवान् होता है, जन्म-मरण का चक्र छूटता नहीं।

अग्निहोत्र से लेके अश्वमेध (राष्ट्रसेवा) पर्यन्त यज्ञ आदि इसके अन्तर्गत हैं।

विहित और *निषिद्ध* रूप में कर्म दो प्रकार के होते हैं। वेद में कर्तव्यरूप से प्रतिपादित ब्रह्मचर्य सत्यभाषणादि विहित हैं, वेद में

अकर्त्तव्यरूप से निर्दिष्ट व्यभिचार हिंसा मिथ्याभाषणादि निषिद्ध हैं। विहित का अनुष्ठान करना, धर्म उसका न करना अधर्म; और निषिद्ध का करना अधर्म और न करना धर्म है।*

(३) उपासना काण्ड—जैसे ईश्वर के गुण कर्म स्वभाव पवित्र हैं, उनको वैसा जान अपने को वैसा करना, योगाभ्यास द्वारा इनका साक्षात् करना, जिससे परमेश्वर के ही आनन्दस्वरूप में अपने आत्मा को मग्न करना होता है, उसको उपासना कहते हैं।

यह कोई यान्त्रिक व ज्ञानरहित क्रिया नहीं, जैसे विना समझे किसी शब्द का या वाक्य का बार-बार जाप करना।

(४) ज्ञान काण्ड—वस्तुओं के साधारण परिचय को ज्ञान कहते हैं।

ज. उपासना काण्ड, ज्ञान काण्ड तथा कर्मकाण्ड के निष्काम भाग में भी परमेश्वर ही इष्टदेव, स्तुति, प्रार्थना, पूजा और उपासना करने के योग्य है। कर्मकाण्ड के निष्काम भाग में तो सीधे परमात्मा की प्राप्ति की ही प्रार्थना की जाती है, परन्तु उसके सकाम भाग में अभीष्ट विषय के भोग की प्राप्ति के लिए परमात्मा की प्रार्थना की जाती है।

झ. वेदों में दो विद्या हैं, अपरा और परा। जिससे पृथिवी और तृण से लेके प्रकृति, जीव और ब्रह्मपर्यन्त सब पदार्थों के गुणों के ज्ञान से ठीक-ठीक कार्य सिद्ध करना होता है वह अपरा और जिससे सर्वशक्तिमान् ब्रह्म की प्राप्ति होती है वह परा विद्या है। इनमें परा विद्या अपरा विद्या से अत्यन्त उत्तम है, क्योंकि अपरा-विद्या का ही उत्तम फल परा विद्या है।

(२०) पहले संसार में सर्वत्र एक वेदमत (=वेदप्रतिपादित

* कइयों के मत में निषिद्ध का न करना न धर्म है और न अधर्म।

धर्म, श्रौतपन्थ) ही था, पीछे से भिन्न-भिन्न मत व सम्प्रदाय हो गये।

वस्तुतः ये चारों वेद ही सब मनुष्यों के धर्मग्रन्थ और विद्या पुस्तक हैं। इनकी शिक्षाओं पर आचरण करना मनुष्यमात्र का परम कर्त्तव्य है।

सत्यासत्य का निर्णय

८८ क. धर्मज्ञान अर्थात् सत्यासत्य के निर्णय के लिये चार साधन हैं। सब से मुख्य वेद (अर्थात् श्रुति) ये ईश्वरकृत होने से स्वतः प्रमाण हैं। दूसरा *स्मृति* (अर्थात् धर्मशास्त्र) इनका प्रमाण वेदाधीन है। वेद के साथ विरोध होने पर ये अप्रमाण ठहरते हैं। तीसरा *सदाचार* अर्थात् सज्जन धर्मात्मा आप्त जनों का सृष्टि के आदि से चला आ रहा वेदोक्त आचरण। चौथा अपने *'आत्मा का साक्षित्व'* (= प्रियता) है।

ख सत्यासत्य के निर्णय के लिए प्रत्येक पदार्थ की परीक्षा करनी चाहिये।

परीक्षाः—पांच प्रकार की है। *प्रथम*—जो ईश्वर, उसके गुण कर्म स्वभाव और वेदविद्या, *दूसरी*—प्रत्यक्षादि आठ प्रमाण, *तीसरी*—सृष्टिक्रम के अनुकूल विचार, *चौथी*—आप्तों का व्यवहार, *पांचवीं*—आत्मा की पवित्रता से सत्यासत्य का ठीक-ठीक निश्चय करना है, उसको परीक्षा कहते हैं।

इन पांच परीक्षाओं से सत्यासत्य का निर्णय करके सत्य का ग्रहण और असत्य का परित्याग करना चाहिये।

मानव सृष्टि

(८९) क. वर्तमान सृष्टि में सर्वप्रथम मानवजाति की उत्पत्ति त्रिविष्टप (= तिब्बत, हिमालय) में हुई। यहाँ से मनुष्य जाति

सर्वत्र फैल गई। पश्चात् इनमें से समाज मे अपने को संगठित (रखने वाले तथा वेदानुकूल आचरण) करने वाले श्रेष्ठों का नाम 'आर्य' और उनसे विपरीत दुष्टों का 'दस्यु' (=असुर) नाम प्रसिद्ध हुआ। 'आर्यजाति' से पहिले ससार में और कोई जाति नहीं थी। इस 'आर्यजाति' (अर्थात् सबसे प्राचीन सभ्य मनुष्य समुदाय) के ही भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न नाम हो गये हैं।

ख. सर्गारम्भ में एक पुरुष और एक स्त्री नहीं, किन्तु अनेक स्त्री और पुरुष उत्पन्न हुए। ये सब तरुणावस्था में अमैथुनी सृष्टि द्वारा पैदा हुए थे। फिर परस्पर विवाह करने से (=मैथुनी सृष्टि द्वारा) उन्हीं की संतान विशाल मानवसंघ के रूप में परिणत हो गई।

ग. यदि आदि मनुष्य *बाल्यदशा* में उत्पन्न होते, तो उनकी पालना कौन करता? और यदि वृद्ध होते, तो आगे सन्तति न चलती। इसलिए उस समय सभी स्त्री-पुरुष तरुण पैदा हुए थे। 'तरुण' का अर्थ १३ या २५ वर्ष की आयु नहीं है। तरुणता का अर्थ है सन्तानोत्पत्ति का सामर्थ्य।

मौलिक अधिकार-सर्वोदय

(३०) क. शरीर-रचना और समान-प्रसव की दृष्टि से सब मनुष्य जन्म से समान हैं। न कोई बड़ा है, न छोटा। सब को मिलकर अपनी अभिवृद्धि करनी चाहिए। अभ्युदय निःश्रेयस की सिद्धि में सबको समान अवसर प्राप्त है।

ख. आर्यसमाज, सर्वभूत संरक्षण (= सर्वजनहित, सर्वोदय) के सिद्धान्तानुसार 'प्राणिमात्र' में सबके साथ प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य वर्ताव चाहता है।

ग. 'मानव समाज' में सामाजिक व्यवहारों में समान-भ्रातृ-भाव, विचार एवं कार्य में समान स्वातन्त्र्य और नागरिकता में समानाधिकार के सिद्धान्त का समर्थन करता है।

स्त्री-पुरुष समानता

(३१) क. स्त्री-पुरुष को उनके नैसर्गिक भेद के कारण पैदा हुई विषमता को छोड़ अन्य सब आहार-विहारादि कार्यों में समानाधिकार देता है। सांविक दृष्टि से इनके नागरिक व आर्थिक अधिकारों में कोई भेद नहीं मानता। कोई किसी का दास या दासी नहीं।

ख. आर्यसमाज की दृष्टि में स्त्रियों का विशेष आदर करना चाहिए। उनकी सदा यत्नपूर्वक रक्षा करनी चाहिए। उन्हें वही गौरव एवं स्थान मिलना चाहिए जो पुरुषों को प्राप्त है। उनसे पर्दा नहीं कराना चाहिए। स्त्रियां पढ़ सकती हैं; कृषि, शिल्प, व्यापार चला सकती हैं; समय आने पर युद्धों तक में भाग ले सकती हैं और उपदेश दे सकती हैं, वे गृहलक्ष्मियां और साम्राज्ञी हैं। साम्राज्ञी का अर्थ है समान अधिकार वाली।

व्यावहारिक पथप्रदर्शन

अर्थात्

अभ्युदय – निःश्रेयस का कार्यक्रम

(३२) क. मनुष्य के संपूर्ण विकास के लिए उसका 'सर्वांगीण वैयक्तिक विकास' और जिस समाज में वह रहता है उसकी 'चतुर्मुखी उन्नति का मार्ग' बताता है।

ख. 'सर्वांगीण वैयक्तिक विकास' अर्थात् शारीरिक उन्नति के लिए आसन, प्राणायामादि योगपद्धति का प्रचार, मांस शराब मादक द्रव्य सिगरेट आदि के पान का तीव्र निषेध करता है,

ब्रह्मचर्य पालन में अधिक जोर देता है। व्यक्ति के लिये 'पंच-महायज्ञ' रूपी दैनिक प्रोग्राम तथा 'षोडश संस्कार' रूपी जीवन-व्यापी प्रोग्राम निर्धारित करता है।

यज्ञ

(३३) यज्ञ—उसको कहते हैं, जो विद्वानों का यथायोग्य सत्कार, शिल्पव्यवहार, रसायन व पदार्थ विद्यादि का उपयोग, विद्यादि शुभ गुणों का दान और अग्निहोत्रादि (जिनसे वायु, वृष्टि, जल, औषधि की पवित्रता करना) से लेकर अश्वमेध पर्यन्त जीवों के उपकार के लिये किया जाता है। अर्थात् जिससे सब जीवों को सुख पहुँचाना होता है।

पंचमहायज्ञ

(३४) क. ब्रह्मयज्ञः—योगाभ्यास, आत्मचिन्तन, स्वाध्याय द्वारा अन्तःकरण की शुद्धि करना। ईश्वर पूजा और वेदपाठ करना। आर्यों के लिये सन्ध्योपासन अर्थात् प्रातः-सायं वेदमंत्रों से ईश्वर की स्तुति-प्रार्थनोपासना करना और वेदादि आर्षग्रन्थों का अध्ययनाध्यापन।

ख. देवयज्ञः—आसन, प्राणायाम द्वारा अपनी सब इन्द्रियों को सुदृढ़ बनाना। अग्निहोत्र द्वारा वायुशुद्धि करके गृहों को स्वास्थ्य-कर रखना। विद्वानों का संग, सेवा, दिव्यगुणों का धारण करना आदि।

ग. पितृयज्ञः—जीवित माता-पिता, वृद्ध कुटुम्बियों, अन्य विद्वानों, वृद्ध ज्ञानी और परमयोगियों का अन्नपानीय-वस्त्र द्वारा यथायोग्य मान-सत्कार, इसी को श्राद्ध और तर्पण करना भी कहते हैं।

घ. अतिथियज्ञः—जगत् के उपकारार्थ निष्काम सेवापरायण,

धार्मिक, परोपकारी, सत्योपदेशक, पक्षपातरहित, शान्त, परमयोगी, सर्वहितकारक, ज्ञानी साधु सन्यासी परिव्राजकों का अन्नपानीय-वस्त्र द्वारा सत्कार करना। ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ तथा सन्यासाश्रम में गये व्यक्तियों के अन्न वस्त्र निवास शिक्षण के समुचित प्रबन्ध में हिस्सा बंटाना।

ङ. बलिवैश्वदेवयज्ञः-(भूतयज्ञ)-आश्रित प्राणियों अर्थात् चींटी गाय कुत्ता आदि जीव जन्तुओं तथा निर्धन, निःसहाय निराश्रित व निर्बल जनों का यथायोग्य रक्षण पोषण करना।

प्रत्येक गृहस्थ स्त्री पुरुष को ये पांच प्रकार के उपकारी श्रेष्ठतम कर्म प्रतिदिन अवश्य करने चाहियें। जीव-हिंसा नहीं करनी चाहिये। खाने के निमित्त हो या मतविषयक पूजा के निमित्त हो, किसी प्रकार के गोवध अथवा अन्य पशुवध का आर्यसमाज प्रबल विरोधी है।

(३४) क. प्रत्येक राज्य के लिये भी इनका करना आवश्यक है।

प्रजा के लाभ के लिये विद्याप्रचार के निमित्त प्राचीन व अर्वाचीन अनेक विद्याओं के उत्तम शिक्षणालय व ग्रन्थागार स्थापित करना तथा ज्ञान विज्ञान की प्रत्येक शाखा में शोध व अन्वेषण करना कराना ब्रह्मयज्ञ है।

प्रजा के लाभ के लिये, उत्तम अन्नोत्पादन करना कराना, कृषि व जलवृष्टि के उपाय करना, स्वास्थ्य रक्षण व रोगनिवारणार्थ उत्तम औषधालय तथा चिकित्सालय स्थापित करना देवयज्ञ है।

प्रजा के हित के लिये, वैज्ञानिकों (साइंटिस्ट), अन्वेषकों (रिसर्च स्कालर्स), कुशल (ऐक्सपर्ट्स) व निपुण (स्पैशलिस्ट्स) विद्वानों को प्रोत्साहन व उनके योगक्षेम (=रोटी कपड़े) का समुचित प्रबन्ध करना पितृयज्ञ है।

प्रजा के कल्याण के लिये, उन निष्काम स्वयंसेवकों (=सैल्फ-

लैस वर्कर्स) तथा परोपकारी जनों (जो कि राष्ट्र में धर्म एवं सदाचार का प्रचार करते हैं) के लिये कार्यकरणार्थ सुविधायें देना तथा उनका पालन पोषण करना *अतिथियज्ञ* है।

प्रजा के सुख के लिये, निराश्रित, असहाय, दीन हीन जन की रक्षा और उपकारी जानवरों का संरक्षण, संवर्धन व संपोषण करना, ताकि राष्ट्र में कोई भी भूखा न रहे—*बलिवैश्वदेवयज्ञ* है।

ख. इन पंचमहायज्ञों का फल यह है कि—

१ *ब्रह्मयज्ञ*—के करने से विद्या, शिक्षा, धर्म, सभ्यता आदि शुभ गुणों की वृद्धि

२. *देवयज्ञ*—अर्थात अग्निहोत्र आदि से वायु, वृष्टि, जल की शुद्धि होकर वृष्टि द्वारा संसार को सुख प्राप्त होना अर्थात् शुद्ध वायु के प्रयोग से आरोग्य, बुद्धि, बल पराक्रम बढ़ के धर्म अर्थ काम और मोक्ष का अनुष्ठान पूरा हो, आनन्द भोगना।

३. *पितृयज्ञ*—माता-पिता और ज्ञानी महात्माओं की सेवा से ज्ञान व सदाचार वृद्धि, असत्य को त्याग कर सत्य ग्रहण से सुखवृद्धि और कृतज्ञताभाव की वृद्धि।

४. *अतिथियज्ञ*—अतिथियों के सम्पर्क में आने से पाखण्ड नाश और सत्य विज्ञान की प्राप्ति, धर्म प्रचार।

५. *बलिवैश्वदेवयज्ञ*—प्राणिमात्र में समदृष्टि, परोपकार भावना की वृद्धि।

संस्कार

(३६) *निषेक* (=गर्भाधान) से लेकर अन्त्येष्टि पर्यन्त सोलह संस्कार हैं, जो मनुष्य की सम्पूर्ण आयु में फैले हुये हैं। दहन कर्म के पश्चात् मृतक मनुष्य के लिये कुछ भी करना शेष नहीं रहता। इनका उद्देश्य गर्भसमय से मृत्यु पर्यन्त मनुष्य के शरीर, मन और आत्मा को बलवान् बनाना तथा उन पर उत्तम संस्कार

व शुभसंकल्प का प्रभाव डालना है, मनुष्य को उसके शुभकर्त्तव्यों का स्मरण करा कर उसकी कायिक, मानसिक व वाचिक उन्नति में सहायता देना है।

जीवन को उन्नत बनाने के लिये अर्थात् मनुष्य के मन, आत्मा और शरीर को सुसंस्कृत(=कल्चर्ड) व बलिष्ठ, तथा उसके जीवन संग्राम में योग्य समर्थ बनाने के लिये संस्कार सर्वोत्तम साधन हैं। संस्कारों के द्वारा शरीर और आत्मा सुसंस्कृत होने से धर्म अर्थ काम और मोक्ष को प्राप्त हो सकते हैं। इसलिये संस्कारों का विधिवत् करना सब मनुष्यों को उचित है।

क. जन्म से पूर्व तीन संस्कार किये जाते हैं।

पहला-गर्भाधान—जिससे पति-पत्नी प्रथमवार सन्तानोत्पत्ति की कामना करते हुए यज्ञ में उपस्थित सभ्य पुरुषों के सामने यह संकल्प करते हैं कि हम 'धार्मिक वैश्वानर सन्तान' (डिव्यजन, वर्ल्डसिटिज़न, विश्वनागरिक) उत्पन्न करेंगे। प्रथमवार ऋतुमती होने के न्यून से न्यून तीन वर्ष बाद कन्या और जब पच्चीस वर्ष का (*अर्थात् पूर्ण स्वस्थ एवं आजीविका संपादन में समर्थ होने पर ही*) पुरुष हो, तभी यह संस्कार करना चाहिये। अन्यथा गर्भ स्थापित न होगा, यदि हुआ तो क्षीण हो जावेगा, यदि क्षीण भी न हुआ, तो सन्तान निर्बल, अल्पायु और संस्कार विहीन होगी।

दूसरा-पुंसवनः—गर्भ की स्थिति का सम्यग् ज्ञान हो जाने अर्थात् गर्भ-ज्ञान के दूसरे, तीसरे व चौथे मास में गर्भरक्षा तथा पुरुषत्व अर्थात् वीर्यशक्ति लाभ के लिये तथा स्त्री की मानसिक शक्ति बढ़ाते हुए उसे उत्साहित प्रसन्न करने के लिये यह संस्कार किया जाता है। स्त्री-पुरुष यज्ञ द्वारा यह प्रतिज्ञा करते हैं कि 'अब से ऐसा कोई कार्य नहीं करेंगे, जिससे गर्भ गिरने का भय हो

और साथ ही गर्भ स्थित रहे, वीर्य स्थिर रहे, और आगामी सन्तान उत्तम हो।' गर्भकाल में सन्तान की उत्तमता के लिये स्त्री को प्रसन्न रखना आवश्यक है।

तीसरा-सीमन्तोन्नयन:—यह गर्भ रहने का के सातवें आठवें मास में गर्भवती स्त्री के मन को सन्तुष्ट और आरोग्य रखने तथा गर्भस्थ शिशु की मानसिक शक्तियों की वृद्धि के लिये किया जाता है। ताकि स्थित हुआ गर्भ उत्कृष्ट और प्रतिदिन नियमित मर्यादा से बढ़ता जाये।

ख. बाल्यकाल में छः संस्कार किये जाते हैं।

पहला-जातकर्म:—बालक का जन्म अर्थात् पुत्र या कन्या के उत्पन्न होने पर विधिवत् नाड़ीछेदन व शिशु स्नान कराके सन्तति के चिरायुष्य की शुभकामना के लिये इष्ट मित्रों से आशीर्वाद लिया जाता है। इसमें बालक की जिह्वा पर 'ओम्' (= प्रारम्भिक सहज उच्चारण) अक्षर लिखा तथा उसके कान में 'वेदाऽसि' सुनाकर (सोने की शलाका से) मधुप्राशन कराया जाता है, ताकि बालक बलिष्ठ और ज्ञानवान् बने। उत्पत्ति के प्रथम दिन से ही बालक को 'मधुरवक्ता' व 'सत्यज्ञान श्रोता' बनाना इस संस्कार का उद्देश्य है।

दूसरा-नामकरण:—इसमें जन्म से ११ वें, १०१ वें अथवा अगले वर्ष जिस दिन जन्म हुआ हो, बालक व बालिका का विधिवत् सुन्दर मधुर व सार्थक नाम रक्खा जाता है।

तीसरा-निष्क्रमण—जन्म से चौथे मास में बालक की जन्म-तिथि पर या यथानुकूल समय पर संस्कार करके बालक को घर से बाहर जहां शुद्ध वायु और सुन्दर दृश्य हों वहां भ्रमण कराते हैं, जिससे कोमलता कम होकर वह हृष्ट-पुष्ट होने लगे और उसका शरीर शीतोष्ण जलवायु का अभ्यासी बने।

चौथा-अन्नप्राशन—छटे, आठवें या दशवें महीने में अर्थात् बच्चे के दांत निकलने पर जब बालक की शक्ति माता के दूध के अतिरिक्त अन्न पचाने योग्य हो जावे, उस समय प्रथम वार अन्न खिलाने के निमित्त यह संस्कार किया जाता है।

पांचवां-मुंडन—एक वर्ष के पश्चत् या तीसरे वर्ष होता है। इसमें प्रथम वार बच्चे के केश कटवाये जाते हैं। उसके शिर पर शिखा रक्खी जाती है।

दांत निकलते समय अन्य रोगों के साथ-साथ चर्मज रोगों की भी सम्भवना होती है। इसलिये यह संस्कार किया जाता है, जिससे शिर हलका हो जाय और बालक चर्म सम्बन्वी तथा गर्मी से होने वाले अन्य रोगों से बचा रहे तथा उसके शारीरिक विकास में अन्तर न आवे।

छटा-कर्णवेधः—तीसरे या पांचवें वर्ष में अन्त्रवृद्धि आदि कई रोगों के उपशमनार्थ बालक के कान की लौ बेधे जाते हैं और उसमें सोने की बाली पहनाते हैं।

ग. विद्यारम्भ करने के समय दो संस्कार किये जाते है।

पहला-उपनयनः—जन्म से पांचवें वर्ष से लेकर बारह वर्ष तक की अवस्था में इससे तीन तार का यज्ञोपवीत लड़के या लड़की को दिया जाता है, जिसका आशय व्रत धारण करना है। इस संस्कार से शिक्षा और दीक्षा का प्रारम्भ होता है।

दूसरा-वेदारम्भ—उपनयन संस्कार के पश्चात् ब्रह्मचर्यव्रतपूर्वक विद्याध्ययन प्रारम्भ करने के लिये बालक-बालिका को गुरुकुलादि उत्तम शिक्षण संस्थाओं में प्रथमवार भेजते समय यह किया जाता है।

घ. विद्या समाप्त करने पर दो संस्कार किये जाते हैं।

पहला-समावर्तन—विद्यालय व गुरुकुल से ब्रह्मचर्यव्रत

नियमपूर्वक विद्याध्ययन समाप्त करके जब ब्रह्मचारी या ब्रह्मचारिणी माता पिता के घर वापिस आते हैं, तब उपलब्ध ज्ञान द्वारा उत्तम जीवन बिताने, समाज में उसका क्रियात्मक व्यवहार करने और गृहस्थाश्रम को ग्रहण करने की स्वीकृत्यर्थ (दीक्षान्तसमारोह) यह संस्कार किया जाता है।

दूसरा *विवाह*:—विद्या समाप्ति के पश्चात् स्वतंत्र सामाजिक जीवन के संचालनार्थ आजीवका का उचित साधन सम्पादन करके, गृहस्थी बनकर संतति शृंखला को स्थिर रखने अर्थात् उत्तम और बलवान् संतान को उत्पन्न करने तथा गृहस्थाश्रम के अन्य कर्त्तव्यों का पालन करने के लिये समान शीलव्यसन वाले (समान गुण कर्म स्वभाव स्थिति वाले) स्त्री-पुरुषों को एक सूत्र में बाधने के लिये यह संस्कार किया जाता है।

ङ, मध्य अवस्था में एक संस्कार किया जाता है।

*गृहाश्रम संस्कार**—जीवन यात्रा में सुख प्राप्ति के लिये धर्मयुक्त साधनों द्वारा अर्थ सचय करना (गृहनिर्माण) अपने सामर्थ्य के अनुसार परोपकार करना, यथाविधि ईश्वरोपासना और गृहकृत्य करना, उत्तम पदार्थों का भोग करना तथा धर्मानुसार सन्तान उत्पन्न करना अर्थात् धर्म अर्थ काम (=त्रिवर्ग) का संपादन इसके द्वारा किया जाता है।

च पिछली अवस्था में दो संस्कार किये जाते हैं।

पहला वानप्रस्थ—वैवाहिक जीवन द्वारा उत्तम और वीर्यवान् सन्तान उत्पन्न करके जब सन्तान (=ज्येष्ठपुत्र) के भी प्रथम

* गृहाश्रम संस्कार वास्तव में विवाह संस्कार की पूर्ति है। इसमें गृहस्थ के कर्त्तव्यों का निर्देश किया गया है। यह पृथक् संस्कार नहीं।

सन्तान उत्पन्न हो जावे या युवावस्था के शिथिल होने पर गृहस्थ को छोड़कर तपः-स्वाध्याय में प्रवृत्त होते समय संन्यासाश्रम की तैयारी के लिये यह संस्कार किया जाता है।

दूसरा-संन्यास—पुत्रैषणा, वित्तैषणा व लोकैषणा का त्याग करके ब्रह्मोपासना और परोपकार के निमित्त अपने को अर्पण कर देने की दीक्षा लेते समय यह संस्कार किया जाता है। अर्थात जिस समय पूर्ण वैराग्य हो जावे और इतनी शक्ति आ जावे कि निःस्वार्थ निष्काम कर्म कर सके, उस समय जिस भी आश्रम में हो उससे सीधे संन्यास आश्रम ग्रहण करे।

अन्त्येष्टि—मृत्यु के पश्चात् प्राणरहित मनुष्य के शरीर (=शव) को इस संस्कार द्वारा अग्नि में विधिपूर्वक भस्म किया जाता है। इस अन्त्येष्टि संस्कार के पश्चात् मृतक मनुष्य का हमारे से कोई सम्बन्ध नहीं रहता। इस लिए उसके लिए कुछ भी करना शेष नहीं रहता। आर्य समाज मृतक पुरुषों के लिए श्राद्ध-तर्पण नहीं मानता।

वर्णाश्रम व्यवस्था

(३७) क. आर्यसमाज 'चतुर्मुखी-सामाजिक-अभ्युदय' (=संघसौष्ठव) के लिए वेदानुकूल 'वर्णाश्रम की व्यवस्था' को आवश्यक समझता है। वर्ण-व्यवस्था जन्म से नहीं, अपितु गुण-कर्मानुसार होनी चाहिए। समाज में सब व्यक्तियों को 'परहित' का ध्यान रखते हुए 'स्वहित' (उन्नति) का पूर्ण अधिकार है, वर्णाश्रम-व्यवस्था ही ऐसा करने का सर्वोत्तम अवसर देती है। मानवसमाज में प्रचलित देश जाति सम्प्रदाय आदि का भेद कृत्रिम है। जन्म कुल के नाम से व्यवहार में प्रचलित वैयक्तिक या जातीय हर प्रकार के ऊंच-नीच के भेदों को मानव कल्याण

में बाधक समझ वैध उपायों से समूलोन्मूलन करने को सदा आर्यसमाज कटिबद्ध रहता है।

ख. *आश्रम व्यवस्था*—मनुष्य की आयु सामान्यतः सौ वर्ष की मानी गई है। वह इस जीवनकाल में प्रारब्ध कर्मों के फलों को भोगता हुआ भी वर्त्तमान और आगामी जीवन के लिए स्वतंत्रता पूर्वक कर्मों का संचय करता है। इस प्रकार अपने जीवन संचालन की योग्यता सम्पादन करने और जीवन का उद्देश्य समुचित विधि से पूर्ण करने के लिए आश्रम-व्यवस्था स्थिर की गई है। इसकी पूर्ति अर्थात् मानव जीवन को पूर्णतः सफल करने के लिए मनुष्य की आयु को चार भागों में विभक्त किया गया है, जिनमें परिश्रम पूर्वक उत्तम गुणों का ग्रहण और श्रेष्ठ काम किये जाते हैं।

प्रथम विभाग = *ब्रह्मचर्याश्रम*—जीवन के न्यून से न्यून प्रथम पच्चीस वर्ष (कन्या हो तो न्यून से न्यून सोलह वर्ष अथवा विवाह होने तक) ब्रह्मचर्य पूर्वक विद्याध्ययन में बिताते हुए सद्विद्यादि शुभगुणों का ग्रहण कर वीर्यरक्षा जितेन्द्रियता से शारीरिक बल बढ़ाना, बौद्धिक उन्नति करना और आत्मिक और (आन्तरिक) शक्तियों का विकास करना अर्थात् शरीर मन आत्मा का विकास व संस्करण।

द्वितीय विभाग = *गृहस्थाश्रम*—जीवन के द्वितीय पच्चीस वर्ष विद्यादि सब व्यवहारों को सिद्ध करने के लिए (नियमपूर्वक) विवाह करके (नियमानुकूल नियत) उत्तम संतान पैदा करना तथा उनको सद्गुणी (=दिव्यजन) बनाने का यत्न करना, अपनी जीविका की प्राप्ति और सब की सेवा करते हुए सामाजिक कर्त्तव्यों का धर्मानुसार पालन करना अर्थात् शरीर मन आत्मा की शक्तियों का व्यावहारिक प्रयोग।

तृतीय विभाग = *वानप्रस्थाश्रम*—जीवन के तृतीय पच्चीस वर्ष गृहस्थाश्रम से पृथक् होकर, गृहस्थभोग से शरीर और मन पर पड़े सांसारिक संस्कारों को दूर करके अपने को पुनः स्वच्छ करना, क्षीण शक्तियों का तपःस्वाध्याय द्वारा संग्रह और मानसिक व आत्मिक शक्तियों को समुन्नत करना अर्थात् शरीर मन आत्मा का पुनः संशोधन।

चतुर्थ विभाग = *संन्यासाश्रम* सब प्रकार के सांसारिक संबन्धों से विरक्त होकर प्राणिमात्र के उपकार में, जगत् के सुधार में और ब्रह्मोपासना द्वारा मुक्ति की साधना में जीवन का शेष भाग बिताना अर्थात् शरीर मन आत्मा की शक्तियों को *अधिकतर परहित व ब्रह्मोपासना में लगाना।*

यह ब्रह्मचर्य वा गृहस्थ अथवा वानप्रस्थाश्रम के पीछे स्वीकार किया जाता है।

मानव जाति विभाग

आर्य-दस्यु

(३८) क. भूतल पर बसने वाले किसी भी मानव समुदाय में, वहां की देश काल परिस्थिति के अनुसार बने धर्मन्याययुक्त नियमों में चलने वाले शांतिप्रिय श्रेष्ठस्वभाव धर्मात्मा परोपकारी सत्यविद्यादि गुणयुक्त उत्तम नागरिकों को *आर्य** और सामाजिक

* यौगिक अर्थ = श्रेष्ठ पुरुष। श्रेष्ठ स्वभाव धर्मात्मा परोपकारी सत्यविद्यादि गुणयुक्त।

योग रूढ़ि अर्थ = आर्यसमाजी।

(राजनैतिक) रूढ़ि अर्थ = १. आर्यावर्त्त देश में सब दिन से रहने वाले अर्थात् भारतवासी।

२. वर्तमान काल के इतिहासज्ञों द्वारा स्वीकृत 'आर्य जाति का वाचक।

व्यवस्था का उपक्षय कर प्रजावर्ग का किसी भी प्रकार से शोषण करने वाले उपद्रवी दल अर्थात् अनार्य अनाड़ी, आर्यों के गुण कर्म स्वभाव और निवास से पृथक्, डाकू चोर हिंसक दुष्ट मनुष्यों को दस्यु मानता है। इनका दमन 'अधिक जनहित' के विचार से न्यायानुमोदित मानता है।

ख. मानव समाज के किसी भी समुदायया अग का समुचित वैध उपायों द्वारा रक्षण करना कर्त्तव्य समझता है। जिसमें प्रचलित दुष्ट दुराचारी शासन द्वारा वहां की प्रजा सन्त्रस्त न पददलित की जा रही हो, ऐसे अन्यायपूर्ण शासन के समूलोन्मूलन के निमित्त 'यथायोग्य वर्ताव' की नीति का अर्थात् दुष्टदमनार्थ साम दान दण्ड भेद के प्रयोग का समर्थन करता है, ऐसा करने में चाहे प्राण त्याग भी क्यों न करना पड़े।

ग. आत्मरक्षणार्थ व धर्म-स्थापनार्थ (मत प्रचार के निमित्त नहीं) अवसर पड़ने पर युद्ध को न्यायानुमोदित मानता है। परन्तु युद्ध का प्रयोजन अपनी शक्ति का प्रदर्शन या प्रभुत्वस्थापन या साम्राज्य विस्तार नहीं। निरपराध प्रजा की रक्षा के लिये, अन्याय, अत्याचार, अधर्माचरण को रोकने के लिये सैनिक शक्ति का प्रयोग भी करना पड़े, तो समुद्यत रहता है।

स्त्री-पुरुष सम्बन्ध—विवाह

(३६) क. मानव संतति की शृंखला को निरन्तर अविच्छिन्न चालू रखने के लिये ब्रह्मचर्य विद्यायुक्त होकर प्रसन्नता पूर्वक, मनुष्य के कर्त्तव्यों के अनुष्ठानार्थ प्रीतियुक्त होकर परिपक्व आयु में समान गुणशील स्थिति सम्पन्न स्त्री पुरुषों में नियमपूर्वक

प्रसिद्धि से अपनी इच्छानुसार पाणिग्रहण अर्थात् 'एक विवाह' को मर्यादित करता है। जन्म से मानी जाने वाली जाति-पाति को विवाह प्रसंग के निमित्त असम्बद्ध और अनावश्यक समझता है, उसका विरोध करता है।

ख. दो आत्माओं के मिलन के निमित्त विवाह एक पवित्र धार्मिक सम्बन्ध है, जो कि मानव जाति के सर्वविध सामाजिक आर्थिक-नागरिक जीवन का मुख्य आधार और आदर्श है। यह स्वेच्छाहारविहार के निमित्त किया गया कान्ट्रैक्ट (= नियत काल सम्बन्ध) नहीं। विवाह माता-पिता के परामर्श (= चुनाव ढूंढ, सलाह), समाज (=सोसाइटी, विश्वेदेवा) की अनुमति तथा वधू वर की तदर्थ सहमति एवं परस्पर प्रसन्नता पूर्वक स्वयवरण (= स्वीकृति) के आधार पर किया जाना चाहिये।

(४८) क—जैसे बीज और क्षेत्र के उत्तम होने से अन्नादि पदार्थ भी उत्तम होते हैं, वैसे ही उत्तम बलवान् स्त्री-पुरुषों का विवाह होने से सन्तान भी गुणवान् और उत्तम होते हैं।

ख. - जो मनुष्य अपने कुल की उत्तमता, सन्तान को उत्तम, दीर्घायु, सुशील, बुद्धि बल पराक्रम युक्त, विद्वान् और श्रीमान् बनाना चाहें, वे सोलह वर्ष से पूर्व कन्या और पच्चीस वर्ष से पूर्व कुमार का विवाह कभी न करें। यही सब सुधारों का सुधार और सौभाग्यों का सौभाग्य और सब उन्नतियों की उन्नति करने वाला कर्म है। इस अवस्था में ब्रह्मचर्य रखके अपनी सन्तानों को विद्या और सुशिक्षा ग्रहण करावें कि जिस से ये उत्तम सदाचारी सभ्य धार्मिक बनें।

ग—सोलहवें वर्ष से लेकर चौबीसवें वर्ष तक कन्या और पच्चीसवें वर्ष से लेकर अड़तालीसवें वर्ष तक पुरुष का विवाह

समय उत्तम है। इसमें जो सोलह और पच्चीस वर्ष में विवाह करें, तो निकृष्ट, अठारह बीस की स्त्री और तीस-पैंतीस व चालीस के पुरुष में विवाह मध्यम, चौबीस वर्ष की स्त्री और अड़तालीस वर्ष के पुरुष का विवाह उत्तम है।

घ.—जो कन्या माता के कुल की छः पीढ़ियों में न हो, और पिता के गोत्र की न हो, उस कन्या से विवाह करना उचित है। यह मर्यादा कम से कम है। अधिक चाहे जितना छोड़ें, अच्छा ही है।

ङ.—जब स्त्री-पुरुष विवाह करना चाहें, तब दोनों के विद्या विनय शील रूप आयु बल कुल और शरीर का परिमाणादि यथायोग्य होने चाहियें। जब तक इनका मेल नहीं होता, तब तक विवाह में कुछ भी सुख नहीं होता।

चाहे लड़का-लड़की मरण पर्यन्त अविवाहित रहें (अर्थात् अक्षतवीर्य अक्षतयोनि रहें) परन्तु परस्पर विरुद्ध गुण, कर्म, स्वभाव वालों का विवाह कभी न होना चाहिये।

(४१) क—गर्भस्थापन तिथि से लेकर सन्तानोत्पत्ति होकर उसके बाद स्त्री के पूर्ण स्वस्थ होने अर्थात् कम से कम दो वर्ष बीतने तक पुनः गर्भाधान नहीं करना चाहिये। गृहस्थाश्रम की पच्चीस वर्ष की अवधि में गृहस्थ स्त्री-पुरुषों का अधिक से अधिक दस सन्तान उत्पन्न करनी चाहियें, परन्तु जितने कम हों, उतना ही उत्तम है। इस प्रकार जो स्त्री-पुरुष गृहस्थ धर्म का पालन करते हैं, उनके उत्तम सन्तान, (दिव्यजन, विश्वनागरिक) उत्पन्न होते हैं और वे गृहस्थी भी ब्रह्मचारी ही कहाते हैं।

ख.—दोनों में से किसी एक के मर जाने पर (या किसी अन्य कारण से जैसे नपुंसकत्वादि स्थिर रोगों के कारण व आपत्काल में, सम्बन्ध योग्य न रहने की दशा में) दोनों के जीवित

होने पर नियत समय तक दोनों की इच्छा हो तो, दोनों के लिये समान रूप से सन्तानोत्पादन के निमित्त समान गुण-कर्म-स्वभाव स्थिति वाले विवाहित स्त्री-पुरुषों में नियमपूर्वक प्रसिद्धि से पुनः सम्बन्ध अर्थात् धर्मानुसार नियमपूर्वक नियोग को स्वीकार करता है। वर्त्तमान परिस्थिति में आर्यसमाज विधवा विवाह स्वीकार करता है। *

ग. सन्तानोत्पादन के निमित्त परिपक्व आयु में समान गुण-कर्म-स्वभाव स्थिति वाले स्त्री-पुरुषों में आजीवन सम्बन्ध का नाम विवाह और तात्कालिक नैमित्तिक सम्बन्ध का नाम नियोग है।

विद्या और शिक्षा

क. *विद्या* जिससे ईश्वर से लेकर पिपीलिका कीट पतंग आदि पर्यन्त सब चेतन तत्वों और सृष्टि के मूल द्रव्यों से लेकर पृथिवी पर्यन्त सब पदार्थों का (अर्थात् प्रकृति और विकृति दोनों का) सत्य विज्ञान होकर उनसे यथायोग्य उपकार लेना होता है, उसका नाम विद्या है। सब जीवों का परस्पर सम्बन्ध व व्यवहार भी विद्या द्वारा ही जाना जाता है।

ख. *अविद्या*—जिससे पदार्थ का विपरीत ज्ञान हो, अथवा जो भ्रम अन्धकार और अज्ञान रूप है, वह अविद्या है।

ग. *शिक्षा*—जिससे विद्या सभ्यता धर्मात्मता जितेन्द्रियतादि की बढ़ती होवे और अविद्यादि दोष छूटें उसको शिक्षा कहते हैं।

घ. *अशिक्षा*—विद्या के अभाव के कारण जिससे सभ्यता, धर्मात्मता जितेन्द्रियतादि की घटती होवे और अविद्यादि दोष बढ़ें, उसको अशिक्षा कहते हैं।

* वेदोक्त राज्य पद्धति न होने के कारण।

(४३) आर्यसमाज अविद्या का नाश और विद्या की अभिवृद्धि करने में स्त्री-पुरुष व रग का भेद किये बिना सदा तत्पर रहता है। सह-शिक्षा को मानव समाज के लिये अहितकर समझता है, विद्याविधान में गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली अर्थात् विद्यार्थियों को परिवार व नगर के वातावरण से दूर रख रमणीक आश्रमों में विद्याभ्यास को प्रमुखता देता है।

(४४) क. विद्या का उद्देश्य केवल आजीविका सम्पादन न मान, आत्मविकास द्वारा उत्तम नागरिक (= दिव्यजन, वैश्वानर) बनाना मानता है। अर्थात् प्रत्येक विद्यार्थी को उत्तम समाज-सेवक बनाना चाहता है।

ख. मानव सस्कृति की मूलस्रोत ससार की सब भाषाओं की जननी वैदिक भाषा (व सस्कृत भाषा) के पढने की ओर प्रत्येक मनुष्य को प्रेरित करता है।

ग. आर्यसमाज के सभासदों को अपनी मातृभाषा व राष्ट्रभाषा के अतिरिक्त हिन्दी और वैदिक संस्कृत के पढने की विशेष प्रेरणा करता है।

(४५) क. आर्यसमाज के सस्थापक (व ब्राह्मण ग्रन्थकारों) के मत में "जब तीन उत्तम शिक्षक अर्थात् एक माता, दूसरा पिता, तीसरा आचार्य होवे, तभी मनुष्य ज्ञानवान् होता है। वह कुल धन्य है! वह सन्तान बडा भाग्यवान् है, जिसके माता और पिता धार्मिक विद्वान् हों। जितना माता से सन्तानों को उपदेश और उपकार पहुँचता है, उतना अन्य किसी से नहीं।

ख जन्म से पाँचवें वर्ष तक बालकों का माता, छठे से आठवें तक पिता शिक्षा करे। इसके पश्चात् अपने सन्तान का उपनयन करके आचार्य कुल (गुरुकुल, विद्यालय) में, जहाँ पूर्ण विद्वान् पुरुष और पूर्ण विदुषी स्त्री शिक्षा और विद्यादान करने वाले हों,

वहाँ ब्रह्मचर्य व्रतपूर्वक विद्याभ्यास के लिये लड़के और लड़कियों को पृथक् पृथक् पाठशालों में भेज देना चाहिये।

ग. इसमें राजनियम और जातिनियम होना चाहिये कि आठवें वर्ष से आगे कोई अपने लड़के और लड़कियों को घर में न रख सके। पाठशाला में अवश्य भेज देवे, जो न भेजे वह दण्डनीय हो।

घ. पाठशाला में सबको तुल्य वस्त्र, खानपान, आसन दिये जाने चाहियें, सब से समान बर्ताव होना चाहिये; चाहे कोई सम्पन्न की सन्तान हो और चाहे कोई दरिद्र की, क्योंकि सबको तपस्वी होना चाहिये।

ङ. विद्या पढ़ने का स्थान एकान्त देश में होना चाहिये। लड़के-लड़कियों की पाठशाला एक-दूसरे से कम से कम दो कोस दूर होनी चाहिये। वहाँ पर काम करने वाले जो अध्यापक, भृत्य, अनुचरादि हों, वे कन्याओं की पाठशाला में सब स्त्री और बालकों की पाठशाला में सब पुरुष रहने चाहियें।

च. जैसे पुरुषों को सब प्रकार की विद्या अधिक से अधिक और व्याकरण धर्म व अपने व्यवहार की विद्या न्यून से न्यून अवश्य पढ़नी चाहिये, वैसे ही स्त्रियों को भी व्याकरण, धर्म, वैद्यक, गणित, शिल्प-विद्या, पाकविद्या आदि अवश्यमेव सीखनी चाहियें।

(४६) क. मनुष्य जीवन का उद्देश्य यथार्थ ज्ञान प्राप्त करते हुए धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि करके व्यक्ति का सर्वविध पूर्ण विकास करना है। आर्यसमाज प्रत्येक मनुष्य को शारीरिक एवं मानसिक दृष्टि से पूर्ण उन्नत करना चाहता है। शाश्वत सुख प्राप्ति के लिये दोनों प्रकार की शक्तियों का विकास परमावश्यक है। जीवन को स्वच्छ एवं 'सत्य शिव सुन्दर' बनाने और

जीवन में सदाचार, सरलता, सादगी व सौन्दर्य (माधुर्य) लाने वाले कार्यों को सदा प्रोत्साहित करता है, विज्ञान एवं कला का उपासक है।

ख. यंत्रविद्या व शिल्पकला को विद्या-शिक्षण का आवश्यक अंग समझता है।

ग. प्रत्येक विद्यार्थी के लिये शारीरिक परिश्रम की शिक्षा देना आवश्यक समझता है।

घ. जो ईश्वरोक्त सनातन सत्यविद्यामय चार वेद हैं, उनको विद्या पुस्तक मानता है। वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना—सुनाना सब आर्यों (उत्तम नागरिकों) का परम धर्म है।

वर्ण-व्यवस्था

(४७) क. समाज को उत्तमरीत्या संगठित अखण्ड बनाये रखने, सब के लिये समान अवसर दिये जाने के भाव को कार्य-रूप देने और सब के लिये जीविका उपलब्धि का सदुपाय कराने के लिये श्रम विभाग का नाम वर्णव्यवस्था है। यह पूर्ण वैज्ञानिक पद्धति है।

ख. अपने-अपने गुण कर्म स्वभावानुसार (योग्यता व सामर्थ्य के अनुकूल) सब मनुष्य अपने कार्यक्षेत्र व जीविकावृत्ति को चुन-लेते हैं। ये चारों वर्ण ज्ञान (प्रधान) श्रम, बल (प्रधान) श्रम धन (उपार्जन के निमित्त किये गये) श्रम और शरीर (प्रधान) श्रम द्वारा समाज की सेवा के सूचक हैं। प्रत्येक व्यक्ति से उसके सामर्थ्य गुण कर्म स्वभाव के अनुसार अनिवार्य कार्य लेने और काम के अनुसार जीवनोचित पारिश्रमिक देने की व्यवस्था के लिये ही 'वर्ण विभाग' है।

ग. वर्ण ईश्वर द्वारा नियमित वस्तु नहीं है। जाति ईश्वर नियमित वस्तु है। जीव को स्वयंकृत कर्मों के अनुसार फलभोग

के निमित्त किसी जाति (योनि) में ईश्वर व्यवस्था से जाना पड़ता है।

वर्ण.—गुण और कर्मों के योग से ग्रहण किया जाता है।

जातिः—जो जन्म से लेके मरण पर्यन्त बनी रहे, जो अनेक व्यक्तियों में एक रूप से प्राप्त हो, जो ईश्वरकृत हो, अर्थात् जैसे मनुष्य, गाय और वृक्षादि समूह हैं। ×

(४८) क आर्य नागरिकों अर्थात् संघ-निर्माण में सहायक जनों के योग्यता और वृत्ति के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ये चार वर्ण हैं। इसके अतिरिक्त कोई पंचम वर्ण नहीं हैं। ⊕ इन चारों वर्णों में न कोई बड़ा है, न कोई छोटा है। शरीर के अंगों के समान सब समाज के उपयोगी अंग हैं।

ख. इनमें सामाजिक व नागरिक अधिकारों की दृष्टि से कोई छोटा या बड़ा नहीं होता। गुण कर्म स्वभाव के अनुसार ही समाजनिर्माण के उद्देश्य से जिसकी जैसी योग्यता है, उससे वैसा कार्य लेने के लिये मानव-समाज ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र नाम से चार प्रकार के विभागों में संगठित होना चाहिये।

ग. 'आहार विहार निवास विद्या व्यवसाय परोपकार और आमोद प्रमोद' का अधिकार सब को समान रूप से है। वेद पढ़ने का अधिकार सब को है।

घ. समाज की उन्नति के लिये प्रजामात्र की, बिना किसी

× विशेष गुणों व स्थान-निवास से प्राप्त रूढ़ि नाम से भी जाति-बोध राजनैतिक तौर पर किया जाता है।

⊕ प्रत्येक देश के वासियों को देश की समृद्धि और मानवता के के विकास में सहयोगीभूत होने के लिये नागरिकों को उनके गुण कर्म स्वभावानुसार इन चारों वर्णों में बांटने की आर्यसमाज विश्व के सामने योजना रखता है।

भेद-भाव के विद्या व शिक्षण द्वारा सेवा करके दान द्वारा जीविका उपलब्ध करने वाले वर्ग को ब्राह्मण; समाज में पीड़ित व शोषित वर्ग की शोषकों, अत्याचारियों व आततायियों से तथा देश की आन्तर-बाह्य शत्रुओं से रक्षा करते हुए राज्यशासन सम्बन्धी कार्यों से वृत्ति प्राप्त करने वालों को क्षत्रिय; पशुरक्षा व्यापार और कृषि आदि के व्यवसाय द्वारा सबके 'अन्नवस्त्र-निवास' के व्यवस्थापक देश के व्यवसायी वर्ग को वैश्य; और शारीरिक परिश्रम द्वारा समाज की सेवा करके जीवन निर्वाह करने वालों को शूद्र मानता है।

ङ. जिस प्रकार शरीर के भिन्न-भिन्न अंग बिना किसी ऊँच-नीच भाव के अपने कर्मों (फंकशन्स) को करते हैं, वैसे ही समाजरूपी शरीर के अन्दर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रों में अपने-अपने कार्य करते हुए परस्पर सहयोग प्रेम और विश्वास का होना समाज की उन्नति, शांति व दृढ़ता के लिये बड़ा आवश्यक है।

(४६) क. वर्ण बदल सकता है अर्थात् एक व्यक्ति जो आज ब्राह्मण वृत्ति में है, वैश्यवृत्ति स्वीकार करके क्षत्रिय या वैश्य कहा सकता है। इसी प्रकार शूद्र भी इसी जीवन में ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य हो सकता है।

ख. विद्यारम्भ करने से लेकर विद्यासमाप्ति तक बालक की योग्यता को देखकर जब वह स्वतन्त्र आजीविका व गृहस्थ जीवन प्रारम्भ करता है, उस समय वर्ण विभाग नियत होता है। *

ग. इसलिये जब तक मनुष्य गृहस्थाश्रम में रहता हुआ

* गृहस्थाश्रम का सम्बन्ध जीविका उपलब्धि से है, इसलिये इस आश्रम में रहने वालों को गुण कर्म स्वभाव के अनुसार चार भागों में विभक्त किया जाता है।

आजीविका सम्पादन करता है, तभी यह वर्ण विभाग रहता है। वानप्रस्थाश्रम में गये हुओं का कोई वर्ण नहीं होता।

घ. वर्णों का यह विभाग केवल लोकसम्बन्धी कर्मों से होता है परलोक सम्बन्धी कर्म वेदाध्ययन, यज्ञ, दानधर्म और जपतप आदि अनुष्ठान सब के लिये एक जैसे हैं, इनमें किसी प्रकार का भेद नहीं।

ङ. कोई भी धर्मानुकूल सद्वृत्ति नीच नहीं। शूद्र का काम नीच नहीं, उससे किसी को घृणा नहीं करनी चाहिये। किसी को भी पंचम चाण्डाल, निषाद व म्लेच्छ कह अस्पृश्य मानना और उससे घृणा करना वेदशास्त्रविरुद्ध, हानिकारक, मानवधर्म-प्रतिकूल और सामाजिक नियमों का उल्लंघन है।

(५०) ब्राह्मण जीवन विधान रचते हैं, क्षत्रिय तदनुसार व्यवस्था अर्थात् उनके अनुसार शासन करते हैं, वैश्य नाना प्रकार के 'अन्न वस्त्र निवास रक्षण शिक्षण' सम्बन्धी पदार्थों के उत्पादन के लिये देश विदेश से व्यापार करते हैं और शूद्र इन तीन वर्णों के कार्यों में शारीरिक श्रम द्वारा सहायता पहुंचाते हैं। इस प्रकार ये चारों वर्ण सामाजिक व्यवस्था में नियत कर्त्तव्य करते हुए इन वृत्तियों के द्वारा अपनी-अपनी आजीविका का सम्पादन और राष्ट्र व समाज की सेवा करते हैं। ⊛

⊛ जो ज्ञान प्रदान करके मानव समाज की सेवा करे, उसे ब्राह्मण कहते हैं। यह मानवधर्म, नीति, सदाचार, सभ्यता, संस्कृति और राष्ट्रधर्म को विकसाता कहते हैं।

जो संकट काल में मनुष्यों की रक्षा और संकट सामग्री का विनाश करे, उसे क्षत्रिय कहते हैं। यह राष्ट्र शक्ति को विकसाता है।

जो कृषिकर्म व्यापारादि से धनधान्य आदि का संग्रह करके समाज

सर्वोदयी राजतन्त्र

(५१) क. राजा (उच्च शासक, सभापति सर्वाधिकारी राष्ट्रपति अध्यक्ष) उसी को कहते हैं, जो शुभ गुण कर्म स्वभाव से प्रकाशमान, पक्षपात रहित हो, न्यायकारी, धर्मात्मा, जितेन्द्रिय, अभयदाता, शत्रु नाशक, शांतिव्यवस्था का संस्थापक, सर्वोपकारी, न्यायधर्म का सेवक, प्रजापीड़नरहित, प्रजाओं में पितृवत् वर्ते और पुत्रवत् उनको मानकर उनकी उन्नति और सुख बढ़ाने में सदा यत्न करे। यह चुना जाता है और देश पर शासन करता है।

ख. प्रजा उसको कहते हैं, जो पवित्र गुण कर्म स्वभाव को धारण कर के पक्षपात रहित न्यायधर्म के सेवन से राज्य की उन्नति चाहते हुए राजविद्रोहरहित राजा को पिता मान उसके साथ पुत्रवत् वर्त्ते।

ग. राजा और प्रजा के पुरुष मिलके सुखप्राप्ति और विज्ञानवृद्धिकारक राजा प्रजा के सम्बन्ध रूप व्यवहार में तीन सभा अर्थात् विद्यार्यसभा धर्मार्यसभा और राजार्यसभा नियत करके समग्र राष्ट्रवासियों को सब ओर से विद्या, स्वातंत्र्य, धर्म, सुशिक्षा और धनादि से अलंकृत करें।

घ. राजा और राजसभा अलब्ध प्राप्ति की इच्छा; प्राप्त की प्रयत्न से रक्षा करे, रक्षित को बढ़ावे और बढ़े हुए धन को वेदविद्या, धर्म का प्रचार, विद्यार्थियों को विद्यादान, असमर्थ अनाथों के पालन पोषण और समस्त प्रजा को सुखसमृद्धि के निमित्त लगावें।

को समृद्ध करे, उसे वैश्य कहते हैं। यह राष्ट्रधन को विकसाता है।

जो शारीरिक पुरुषार्थ से सेवा करके समाज को समुन्नत करे, उसे शूद्र कहते हैं। यह राष्ट्रश्रम को विकसाता है।

ङ. एक को, राज्य का स्वतंत्र अधिकार नहीं देना चाहिये। राजा के अधीन सभा और सभा के नियन्त्रण में राजा, राजा और राजसभा प्रजा के अधीन और प्रजा राजसभा व राजा के अधीन रहे।

च. *राज्यसभा*—का मुख्य काम राज्य व्यवस्था का स्थापन करना, दुष्टों को दण्ड देकर न्यायव्यवस्था करना, अनाथ असहायों का पालन पोषण करना, देश की अन्तर्बाह्य शत्रुओं से रक्षा करना आदि हैं। गृहविभाग तथा विदेशविभाग इसके अन्तर्गत हो सकते हैं।

विद्यासभा—का मुख्य काम विद्या प्रचार करना, शोध के कार्यों का निरीक्षण करना, विज्ञान केन्द्रों का स्थापित करना आदि आदि हैं। शिक्षाविभाग इसके अन्तर्गत है।

धर्मसभा का मुख्य काम यह है कि वह जनता में धर्ममर्यादा, सदाचार नीति नियमों का प्रचार और लोगों के जीवन में धर्म का संचार करे। जनसेवा विभाग जो लोक कल्याणकारी योजनाएँ बनाता है, इसके अन्तर्गत है।

छ. ये तीनों स्वतंत्र सभायें नहीं, परन्तु राज्य (या स्टेट) के अधीन कार्य करती हैं।

मताधिकार

(५२) भले बुरे, हानि लाभ, सुख दुःख, और सच झूठ की पहचान रखने वाले विवेकशील न्यायप्रिय प्रत्येक स्वदेश के नागरिक वयस्क स्त्री-पुरुष को वोट देने का अधिकार मानता है। परंतु करोड़ों मूर्खों के मत से एक विद्वान के मत को अधिक मान्यता होनी चाहिए।*

* बिना किसी भी प्रकार की योग्यता के प्रत्येक स्त्री-पुरुष को वोट का समानाधिकार देना लेखक की सम्मति में अविसम्मत या वेदानुकूल नहीं।

राज्यसंथा

(५३) क. सर्वलोक कल्याणार्थ सामान्य प्रजा में से (बिना किसी जाति-कुल-मत-भेद के) विवेकयुक्त प्रजा द्वारा चुने श्रेष्ठ योग्य त्यागी समर्थ प्रतिनिधियों के स्वदेशीय-शासन की प्रजातंत्रात्मक व्यवस्था को सर्वोत्तम मानता है।

ख. किसी भी राष्ट्र (समाज + देश) में साम्प्रदायिक आधार पर प्रतिनिधित्व व विशेष अधिकार दान अथवा देश विभाजन को अहितकर, अराजनैतिक व अराष्ट्रिय समझता हुआ उसका विरोधी है। आर्यों = निःस्वार्थ, धार्मिक, आप्त, उत्तम नागरिकों के हाथ में शासन होना चाहिये, चाहे उनका मत व सम्प्रदाय कुछ भी क्यों न हो?

ग. मत (रिलिजन) का जातीयता (राष्ट्रियता व नेशनैलिटी) से कोई सम्बन्ध नहीं मानता, हिन्दुत्व (भारतीयता) जातीयता है; मत (रिलिजन) नहीं। भारत देशोत्पन्न एक मुसलमान का मत इस्लाम है, पर उसकी जातीयता हिन्दू ❀ (भारतीय) है अफ़गानिस्तान में अफ़गान जातीयता है, यद्यपि उनमें भिन्न भिन्न कई मत हो सकते हैं। तुर्किस्तान का निवासी एक तुर्क, शैव वैष्णव भी हो सकता है और मुसलमान भी। यदि एक व्यक्ति जिसका मत इस्लाम है--सदा के लिये भारत देश में बस जा तथा इस देश को अपना देश बनाले, तो जातीय तौर पर व भारतीय-मुसलमान (हिन्दी मुसलमान) कहलावेगा, जैसे कुछ

❀ भारतवर्ष में बसने वाले व्यक्ति का जातीय नाम 'हिन्दू' ऋषि दयानन्द ने नहीं माना, भ्रमात्मक भी है; (प्रचलित होने से लिखा है) अतः हमें अपना वास्तविक नाम 'आर्य' या 'भारतीय' अपनाना चाहिये।

व्यक्ति भारतीय-ईसाई व भारतीय-वैष्णव कहलाते हैं।

घ. *व्यक्तियों के समुदाय का नाम समाज है।* जब मनुष्यों के एक बड़े समुदाय के व्यक्तियों में बहुत देर तक एक विशेष भूखण्ड पर बसे रहने के कारण एकानुभूति और आत्मीयता का विकास हो जाता है, जिससे उसमें एकसा आचार-विचार, एकसा आहार-विहार, एकसा अनुष्ठान, एकसी वेश-भूषा, एक भाषा एवं एकसी साहित्यिक धारणायें और एक शासन व्यवस्था विकसित हो जाती है; तब वह समुदाय इतिहास में एक विशेष जाति का वाचक हो जाता है। इसकी सभ्यता, संस्कृति और भाषा एक हो जाती है। परन्तु,

केवल मत या केवल भाषा जातीयता का आधार नहीं हो सकते।

(४४) क. प्रत्येक राज्य मुख्यतः धर्मयुक्त न्यायशील और नागरिकता के अधिकार की दृष्टि से न्यायप्रिय लोकराज्य (सैक्युलर स्टेट) होना चाहिये। राज्य (स्टेट) का कोई मत (राजमत) नहीं होता; प्रत्येक स्टेट का राजधर्म (ड्यूटीज) होता है ❁

राज्य में सुख-शान्ति-व्यवस्था की स्थापना और जनता में धर्म व सदाचार के स्तर को उन्नत करने का पूर्ण प्रबन्ध न्यायप्रिय लोकराज्य को अपनी ओर से करना चाहिये, ताकि समस्त प्रजा नीति मर्यादा में रहती हुई परस्पर प्रेम और विश्वास से निर्भय रह सके और अपने अधिकारों का उपभोग कर सके।

ख. जो संस्थायें प्रजा में मानवधर्म, उत्तम सदाचार व प्रेम नीति का प्रसार करती हों, उन्हें प्रचार की खुली छुट्टी तथा पूर्ण

❁ राजशासन व व्यवस्था वेदोक्त होनी चाहिये। क्योंकि वेद सार्वभौम मानवधर्म प्रतिपादक हैं, मतविशेष के प्रतिपादक नहीं।

सहायता देना उचित और आवश्यक है। साथ ही शिक्षण संस्थाओं द्वारा प्रारम्भ से बालकों के मनों पर दया, सेवा, स्नेह आदि उत्तम संस्कार बैठाने के लिये राज्य द्वारा धर्म और सदाचार की शिक्षा-दीक्षा को भी अनिवार्य समझता है।

स्वदेशी व्यवहार

(५५) क. भूमण्डल के प्रत्येक देश के वासियों को अपने-अपने देश की संस्कृति व परम्पराओं का मान तथा स्वदेश में निर्मित व उत्पन्न वस्तुओं का उपयोग करना चाहिये। ❀

ख. किसी भी देश की संस्कृति व सभ्यता की अच्छाईयों को स्वीकार करने की प्रेरणा करता है। अन्धानुकरण का विरोधी है। जो आचरण और सभ्यता वेदानुकूल नहीं, उनका विरोध करता है, चाहे वे भारत के हों या किसी अन्य देश के।

समान प्रवेश

(५६) क. सबके इकट्ठे होने के स्थलों अर्थात् यातायात के साधनभूत यान, रथ, सवारी आदि, जलाशय व भोजनशाला, पार्क, पुस्तकालय, व पूजा स्थलों पर सब के समान प्रवेश को स्वीकार करता है।

ख. परन्तु जिनको इन पूजास्थलों की पवित्रता और उनकी पूजापद्धति में श्रद्धा, विश्वास व मान्यता नहीं, उनको इनके उपयोग व इनमें प्रवेश की अनुमति देना हानिकारक समझता है। किन्तु द्रष्टा रूप से वहाँ की मर्यादानुसार जाने पर प्रतिबन्ध नहीं मानता।

❀ इस सर्वतन्त्र सिद्धान्तानुसार आर्यसमाज स्वदेशीय वस्त्र, स्वजातीय सभ्यता व संस्कृति और स्वदेशीय व्यापार की अभिवृद्धि करने में सर्वदा यत्नशील रहता है। विदेशी सभ्यता की [illegible] को सदा सचेत करता है।

राजभाषा

(४७) क. प्रत्येक देश (राष्ट्र) के लिये उसकी मातृभाषा को राजभाषा किये जाने के सार्वभौम सर्वतन्त्र सिद्धान्तानुसार, भारत देश के लिये वर्तमान स्थिति में देवनागरी लिपि में लिखी हिन्दी (आर्यभाषा) को राजभाषा स्वीकारता है। और प्रत्येक आर्यसभासद् व देशवासी को इसके पढ़ने को प्रेरता है। वस्तुतः आर्यसमाज संस्कृतभाषा को राजभाषा बनाने का पक्षपाती है।

ख. प्रत्येक देश के विद्यापीठों व अन्य सभी प्रकार की शिक्षण संस्थाओं में शिक्षा का माध्यम उस देश की राष्ट्रभाषा ही होनी चाहिये। इसी में मानव जाति का कल्याण है।

ग. राजभाषा या राष्ट्रभाषा के निर्णय में 'मत-सम्प्रदाय' का सम्बन्ध व विचार 'अराजनैतिक' और सर्वथा अहितकर है। चीन या इंग्लैण्ड में बसने वाले हिन्दू(= भारतीयों)की राजभाषा चीनी या इंग्लिश और इसी प्रकार भारत में बसने वाले जैन,बौद्ध,ईसाई, मुसलमान, पारसी व सिक्ख सभी की राजभाषा हिन्दी होनी चाहिये।

घ. संस्कृत को विश्व (सार्वभौम) भाषा स्वीकारता है।

विदेशनीति

(४८) क. प्रत्येक देश को पूर्ण स्वतन्त्रता अर्थात् सब प्रकार के राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, व्यापारिक व आर्थिक मामलों में उस देश की प्रजा की स्वीकृति और उनके शासनाधिकार को आवश्यक स्वीकारता है।

ख. एक देश का दूसरे देश पर, एक जाति का दूसरी जाति पर, एक समूह (वर्ग व दल) का दूसरे समूह (वर्ग व दल) पर उसकी इच्छा के विरुद्ध किसी भी प्रकार के प्रभुत्व को अनुचित

और मानवाधिकारों का विनाशक समझता हुआ, उसका प्रबल विरोधी है।

ग. उन सब प्रवृत्तियों का जिनके नाम पर 'कोई जनसमुदाय' प्रजा के हिताहित का ध्यान किये बिना केवल अपनी स्वार्थसिद्धि के लिये धनबल (=पूँजीवाद) राजबल (=साम्राज्यवाद) बुद्धिबल (=पुरोहितशाही) शरीरबल (=आतंकवाद) की सहायता से अन्य जनों की आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक, बौद्धिक, शारीरिक निर्बलताओं का अनुचित लाभ उठाता है और उससे प्राप्त धन (=कैपिटल) और शक्ति (पावर) का अपने प्रभुत्व विस्तार के लिये स्वयं भोग करता है, उनका विरोधी है।

घ. संसार भर का उपकार करना अर्थात् मानवमात्र की शारीरिक, मानसिक, आत्मिक, सामाजिक व राष्ट्रिय उन्नति करना आर्यों का परम उद्देश्य है। इसी दृष्टि से दो देशों को परस्पर बर्तना चाहिये।

विश्वशान्ति के लिये:—

(५६) क. हर एक राष्ट्र के लिये जिसकी एक संस्कृति सभ्यता हो अर्थात् जिसमें एक भाषा, एक जैसे आहार-विहार, एक जैसी वेशभूषा, एक जैसे अनुष्ठान, और एक प्रकार के आचार-विचार वाला जनसमुदाय रहता हो (चाहे उसमें कितने भी मतमतान्तर क्यों न हों) और जिसमें ऐसे समुदाय को रहते इतना समय बीत गया हो कि उस देश के साथ मातृत्व की स्नेहमयी भावना जागृत हो गई हो उसको राजनैतिक (=भूः) व सांस्कृतिक (=भुवः) आत्मनिर्णय अर्थात स्वभाग्य निर्णय (=स्वः) का बिना किसी प्रतिबन्ध के पूरा-पूरा अधिकार चाहता है।

ख. अन्तर्जातीयवाद से विश्व में सुख,शान्ति,व्यवस्था का होना सम्भव मानता है। इस लिये भूतल पर 'आर्य चक्रवर्त्ती साम्राज्य'

की स्थापना करना चाहता है, ताकि समस्त देशों के योग्य, त्यागी, समर्थ, आप्त, बुद्धिमान् सज्जनों (आर्यों'=उत्तम-नागरिकों) द्वारा निर्मित पद्धति के आधार पर समस्त भूमण्डल पर एक जैसी शासन व्यवस्था हो, जिससे समस्त बिखरे राष्ट्र एकसूत्र में ग्रथित रहें।

(६०) क. मनुष्य के लिये कर्म करते हुए (अर्थात् समाज में किसी न किसी प्रकार का रचनात्मक कार्य करते हुए) सौ वर्ष तक 'अदीन (=स्वतन्त्र) जीवन' विताने का उपदेश करता है। सर्वतोमुखी कल्याणार्थ सबके लिये परिश्रम करना अनिवार्य है, बिना परिश्रम के उपभोग करने व अकेले खाने को पाप (=सामाजिक अपराध) समझता है।

ख. योग्यतानुसार समाज में सब का स्थान नियत होना चाहिये। और आवश्यकतानुसार सबके 'भोजनाच्छादननिवास-विद्या विहार' व्यवसाय कार्य व परोपकार की उचित व्यवस्था को विना किसी भेदभाव के स्वीकारता है। अर्थात् 'मानवसंघ' के अभ्युदय के लिए हर व्यक्ति की योग्यता सामर्थ्य से लाभ उठाना और सबके लिये 'अन्नवस्त्रगृहशिक्षा' का समुचित प्रबन्ध करना राज्य का उद्देश्य है।

ग आर्यसमाज उत्तम आर्यनागरिकों के द्वारा एक ऐसे 'मानवसमाज'का निर्माण कर रहा है, जिसमें ऊँच-नीच, गरीब-अमीर, शोषक-शोषित सब भेदभाव मिट जावेंगे। एक ऐसे प्रेम युक्त विश्वासपूर्ण, सेवामय वातावरण की सृष्टि करना चाहता है, जो प्राणिमात्र में एकता लाकर 'अत्याचारी पशुमानव' को 'सच्चा मानव' बना दे।

घ. संसार के समस्त महापुरुषों, पीर-पैगम्बरों, साधु-सन्तों, विद्वानों, नेताओं, आदर्श पुरुषों का यथायोग्य मान करता है। हर

एक मत और मत वालों के प्रति सहिष्णुता का भाव रखता है। महर्षि दयानन्द सरस्वती को क्रान्तिकारी युगपरिवर्त्तक, वैदिक धर्म चक्र प्रवर्त्तक, प्राचीन आर्य संस्कृति का पुनरुद्धारक, समाज-सुधारक, विश्वइतिहास में नवयुग निर्माता, भारतवर्ष की चतुर्मुखी उन्नति का पिता, राष्ट्रपितामह, उत्तमसंगठनकर्त्ता, अद्भुत अन्दोलनकारी और इस समाज का संस्थापक मानता है।

मिश्रित

कुछ विशेष शब्दों की परिभाषायें लिखी जाती हैं, जिनका महर्षि दयानन्द ने अपने ग्रन्थों में वर्णन किया है, ताकि इन शब्दों के ठीक-ठीक अर्थ समझ में आजायें।

(६१) क. *शास्त्र*—जो ग्रन्थ सत्य विद्याओं के प्रतिपादक हों, जिनसे मनुष्यों को सत्य शिक्षा और सत्यासत्य का ज्ञान होता हो, ऐसे शास्त्रों के स्वाध्याय व तदनुकूल आचरण से शरीर, मन, आत्मा शुद्ध होते हैं।❀

ख. *आचार्य*—जो श्रेष्ठ आचार को ग्रहण करावे अर्थात् सत्याचार का ग्रहण और मिथ्याचार का त्याग करावे और सब सत्यविद्याओं को पढ़ा देवे।

उपाध्याय—जो सांगोपांग वेदविद्याओं, वेदों का एक देश व अङ्गों को पढ़ाता हो।

ब्रह्म—चारों वेदों का विद्वान्।

गुरु—जो वीर्यदान से लेके भोजनादि कराके सन्तान का लालन पालन करते हैं, उनको जनक (शरीर जन्मदाता) गुरु व पिता कहते हैं।

❀ विद्यापुस्तक—जो ईश्वरोक्त सनातन सत्य विद्यामय चार वेद हैं उनको विद्यापुस्तक कहते हैं।

तथा और जो अपने सत्योपदेश से हृदय का अज्ञानरूपी अन्धकार मिटा देवे अर्थात् सत्य को ग्रहण करावे और असत्य को छुड़ावे, वह भी गुरु कहाता है।

अतिथि—जिसके आने और जाने की कोई भी निश्चित तिथि न हो तथा जो विद्वान् होकर सर्वत्र भ्रमण करके प्रश्नोत्तर द्वारा उपदेश से सब जीवों का उपकर्ता है, ऐसा विरक्त, सर्वसंग-परित्यागी, संन्यासी परिव्राजक अतिथि कहाता है।

पुरोहित—जो सदाचारी परोपकारी विद्वान् गृहस्थ यजमानों के घरों में वेदोक्त जातकर्मादि संस्कार कराता है, यजमान का हितकारी और सत्योपदेष्टा होवे।

आप्त—जो सत्यमानी, सत्यवादी, सत्यकारी, पक्षपातरहित धार्मिक विद्वान्, निष्कपटी, छलादिदोषरहित, यथार्थवक्ता, धर्मात्मा पुरुषार्थी जितेन्द्रिय, परोपकारप्रिय सब के सुख के लिए प्रयत्न करता है; जो सत्योपदेष्टा सब मनुष्यों पर कृपा दृष्टि से वर्तमान होकर कल्याणार्थ जैसा अपने आत्मा में जानता हो—जिससे स्वयं सुख पाया हो, उसी विषय के कथन की इच्छा से प्रेरित, पृथिवी से लेकर परमेश्वर पर्यन्त पदार्थों का ज्ञान प्राप्त कर अविद्यान्धकार का नाश करके अज्ञानी लोगों के आत्माओं में विद्यारूप सूर्य का प्रकाश सदा करे।

न्यायकारी—जो सदा धर्माधर्म का विचार कर असत्य को छोड़ सत्य का ग्रहण करे, अन्यायकारियों को हटावे और न्यायकारियों को बढ़ावे, जो अपने आत्मा के समान सबका सुख चाहे और निष्पक्ष और निःस्वार्थ हृदय से न्याय करे।

पण्डित—जो सत् असत् को विवेक से जानने वाला धर्मात्मा सर्वहितकारी है।

ग, प्रत्येक व्यक्ति को इन सबका आदर मान करना चाहिए।

गृहस्थ का आवश्यक कर्त्तव्य है कि वह अपने आचार्य उपाध्याय गुरु अतिथि पुरोहित आप्त और न्यायकारी जनों की सदा तन मन धन से यथायोग्य पूजा करे और इनकी आज्ञा में यथावत् वर्त्ते ।

घ, मूर्ख—जो अज्ञान, हठ दुराग्रहादि दोषसहित है।

मायावी—जो छल कपट स्वार्थ में ही प्रसन्नता दम्भ अहङ्कार शठतादि करे।

प्रत्येक गृहस्थ का कर्त्तव्य है कि वह इनके संग से अपने आप अपने घर की स्त्रियों और बच्चों को बचाए रक्खे। इनसे कभी डर न माने।

तीर्थ—जितने विद्याभ्यास अर्थात् वेदादि सत्यशास्त्रों का पढ़ना-पढ़ाना, धार्मिक विद्वानों का संग, सुविचार, परोपकार, धर्मानुष्ठान, यमनियमादि योगाभ्यास, विद्यादानादि पुरुषार्थ, ब्रह्मचर्य, जितेन्द्रियता, निर्वैर, निष्कपट, सत्य का संग अर्थात् सत्यभाषण, सत्य मानना, सत्याचरण, आचार्य अतिथि माता-पिता की सेवा, परमेश्वर की स्तुति प्रार्थना उपासना, शान्ति, सुशीलता, धर्मयुक्त पुरुषार्थ, ज्ञान-विज्ञान आदि उत्तम शुभ गुण कर्म दुःखों से तारने वाले हैं, वे सब तीर्थ कहाते हैं।

च, देवता—दिव्य गुणों से युक्त होने से कहते हैं। चेतन और जड़ भेद से देवता दो प्रकार के हैं। माता-पिता आचार्य आदि चेतन देवता और सूर्य चन्द्रमा पृथिवी आदि जड़। परन्तु जड़ देवताओं को कहीं ईश्वर या उपासनीय नहीं माना है।... यह उन मनुष्यों की भूल है, जो देवता शब्द से केवल ईश्वर का ग्रहण करते हैं। परमेश्वर देवों का देव होने से महादेव इसीलिए कहा जाता है कि वही सब जगत की उत्पत्ति स्थिति प्रलय करता है, न्यायाधीश अधिष्ठाता है।

तथा और जो अपने सत्योपदेश से हृदय का अज्ञानरूपी अन्धकार मिटा देवे अर्थात् सत्य को ग्रहण करावे और असत्य को छुडावे, वह भी गुरु कहाता है।

अतिथि—जिसके आने और जाने की कोई भी निश्चित तिथि न हो तथा जो विद्वान् होकर सर्वत्र भ्रमण करके प्रश्नोत्तर द्वारा उपदेश से सब जीवों का उपकर्ता है, ऐसा विरक्त, सर्वसंग-परित्यागी, संन्यासी परिव्राजक अतिथि कहाता है।

पुरोहित—जो सदाचारी परोपकारी विद्वान् गृहस्थ यजमानों के घरों में वेदोक्त जातकर्मादि संस्कार कराता है, यजमान का हित-कारी और सत्योपदेष्टा होवे।

आप्त—जो सत्यमानी, सत्यवादी, सत्यकारी, पक्षपातरहित धार्मिक विद्वान्, निष्कपटी, छलादिदोषरहित, यथार्थवक्ता, धर्मात्मा पुरुषार्थी जितेन्द्रिय, परोपकारप्रिय सब के सुख के लिए प्रयत्न करता है; जो सत्योपदेष्टा सब मनुष्यों पर कृपा दृष्टि से वर्तमान होकर कल्याणार्थ जैसा अपने आत्मा में जानता हो—जिससे सुख पाया हो, उसी विषय के कथन की इच्छा से प्रेरित, ... से लेकर परमेश्वर पर्यन्त पदार्थों का ज्ञान प्राप्त कर अविद्या का नाश करके अज्ञानी लोगों के आत्माओं में विद्यारूप प्रकाश सदा करे।

न्यायकारी—जो सदा धर्माधर्म का विचार कर ... छोड़ सत्य का ग्रहण करे, अन्यायकारियों को हटावे ... कारियों को बढ़ावे, जो अपने आत्मा के समान सबका ... और निष्पक्ष और निःस्वार्थ हृदय से न्याय करे।

पण्डित—जो सत् असत् को विवेक से जानने वाले ... सर्वहितकारी है।

... ग, प्रत्येक व्यक्ति को इन सबका आदर मान करना

गृहस्थ का आवश्यक कर्त्तव्य है कि वह अपने आचार्य उपाध्याय गुरु अतिथि पुरोहित आप्त और न्यायकारी जनों की सदा तन मन धन से यथायोग्य पूजा करे और इनकी आज्ञा में यथावत् चर्त्ते ।

घ. मूर्ख—जो अज्ञान, हठ दुराग्रहादि दोषसहित है।

मायावी—जो छल कपट स्वार्थ में ही प्रसन्नता दम्भ अहङ्कार शठतादि करे।

प्रत्येक गृहस्थ का कर्तव्य है कि वह इनके संग से अपने आप अपने घर की स्त्रियों और बच्चों को बचाए रक्खे। इनसे कभी डर न माने।

तीर्थ—जितने विद्याभ्यास अर्थात् वेदादि सत्यशास्त्रों का पढ़ना-पढ़ाना, धार्मिक विद्वानों का संग, सुविचार, परोपकार, धर्मानुष्ठान, यमनियमादि योगाभ्यास, विद्यादानादि पुरुषार्थ, ब्रह्मचर्य, जितेन्द्रियता, निर्वैर, निष्कपट, सत्य का संग अर्थात् सत्यभाषण, सत्य मानना, सत्याचरण, आचार्य अतिथि माता-पिता की सेवा, परमेश्वर की स्तुति प्रार्थना उपासना, शान्ति, सुशीलता, धर्मयुक्त पुरुषार्थ, ज्ञान-विज्ञान आदि उत्तम शुभ गुण कर्म दुःखों से तारने वाले हैं, वे सब तीर्थ कहाते हैं।

च. देवता—दिव्य गुणों से युक्त होने से कहते हैं। चेतन और जड़ भेद से देवता दो प्रकार के हैं। माता-पिता आचार्य आदि चेतन देवता और सूर्य चन्द्रमा पृथिवी आदि जड़। परन्तु जड़ देवताओं को कहीं ईश्वर या उपासनीय नहीं माना है।... यह उन मनुष्यों की भूल है, जो देवता शब्द से केवल ईश्वर का ग्रहण करते हैं। परमेश्वर देवों का देव होने से महादेव इसीलिए कहा जाता है कि वही सब जगत् की उत्पत्ति स्थिति प्रलय करता है, न्यायाधीश अधिष्ठाता है।

देव—विद्वान्, विद्या सदाचार आदि दिव्य गुण युक्त।

असुर—अविद्वान् अर्थ-काम में आसक्त।

राक्षस—पापी दुर्जन, अपकारी, शोषक।

पिशाच—अनाचारी अत्याचारी, भयदाता।

(६०) *शिष्टाचार*—जो धर्मानुष्ठरण पूर्वक ब्रह्मचर्य से विद्या-ग्रहण कर प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सत्यासत्य का निर्णय करके सत्य का ग्रहण और असत्य का परित्याग करना है तथा जिसमें शुभ गुणों का ग्रहण और अशुभगुणों का त्याग किया जाता है जो इसको करता है, वह शिष्ट कहाता है।

सदाचार—जो सृष्टि से लेके आज पर्यन्त सत्पुरुषों का वेदोक्त आचार चला आया है, अर्थात् जिसमें सत्य का ही आचरण और असत्य का परित्याग किया जाता है।

परोपकार—अपने सब सामर्थ्य से दूसरे प्राणियों को सुख पहुँचाने के निमित्त जो तन-मन धन से प्रयत्न करना है, जिससे सब मनुष्यों के दुराचार दुःख छूटें, श्रेष्ठाचार और सुख बढ़ें तथा किसी जीव को कष्ट न हो, ऐसा करना है। तन-मन-धन से सब के सुख बढ़ाने में उद्योग करने को सर्वहित भी कहते हैं

ज्येष्ठ-कनिष्ठ व्यवहार—जो बड़ों और छोटों से यथायोग्य परस्परमान्य व्यवहार करना है, सब को यह व्यवहार अवश्यमेव सीखना चाहिये।

चोरीत्याग—जो स्वामी (या अधिकारी) की आज्ञा के विना किसी के पदार्थ का ग्रहण करना है, वह चोरी और उसका छोड़ना चोरी त्याग कहाता है।

व्यभिचार त्याग—अपनी स्त्री को छोड़ दूसरी स्त्री के साथ गमन, अपनी स्त्री के साथ ऋतुकाल के विना समागम, अपनी ... के साथ भी वीर्य का अत्यन्त नाश और युवावस्था के विना

(अर्थात् बचपन या बुढ़ापे में) विवाह करना, व्यभिचार है। परस्त्रीगमन न करना, ऋतुकाल में ही स्त्री को वीर्यदान देना, अपनी स्त्री से भी संयत संग करना और युवावस्था में ही विवाह करना व्यभिचार-त्याग है।

(६३) *पुण्य*—जिसका स्वरूप विद्यादि शुभगुणों का दान, सत्यभाषणादि सत्याचार, प्रीतिपूर्वक न्यायानुसार धर्मयुक्त व्यवहार और सब जीवों का परोपकार करना है। इससे सुख मिलता है।

पाप—जो पुण्य से उलटा और मिथ्याभाषणादि दुराचार, अधर्मयुक्त व्यवहार और सब जीवों को कष्ट पहुंचाना है। इसका परिणाम दुःख है।

सुख-दुःख—जितना परवश होना है, वह सब दुःख और जितना स्वाधीन होना है, वह सुख कहाता है। यही संक्षेप से सुख और दुःख का लक्षण जानना चाहिये। यह निश्चित है कि जो मनुष्य धर्मयुक्त व्यवहार में ठीक-ठीक वर्तता है, उसको सर्वत्र सुखलाभ और जो विपरीत वर्त्तता है, वह सदा दुःखी होकर अपनी हानि कर लेता है।

(६४) क. *विश्वास*—जिसका मूल अर्थ और फल का निश्चय करके सत्य ही हो, वह विश्वास और

अविश्वास- जो विश्वास का उलटा अर्थात् जिसका तत्व अर्थ न हो, वह अविश्वास कहाता है।

ख. *भावना*—जो चीज़ जैसी हो विचार पूर्वक उसमें वैसा ही निश्चय करना कि जिसका विषय भ्रम रहित हो, अर्थात् जैसे को तैसा समझ लेना भावना। और—

अभावना—जो चीज जैसी न हो मिथ्याज्ञान से उसमें वैसा निश्चय करना कि जिसका विषय भ्रान्त हो अर्थात् जैसे को तैसा

न समझना अभावना कहलाता है। जैसे जड़ में चेतन और चेतन में जड़ का निश्चय करना।

(६५) क. स्वर्ग—नाम विशेष, सुख भोग और उस सुख की सामग्री का जीव को प्राप्त होना।

नरक—नाम विशेष दुःखभोग और उस दुःख की सामग्री का जीव को प्राप्त होना।

ख. परलोक—जिसमें सत्यविद्या से परमेश्वर की प्राप्ति हो और उस प्राप्ति से इस जन्म व पुनर्जन्म तथा मोक्ष में परमसुख प्राप्त होता है, उसको परलोक कहते हैं।*

अपरलोक—जो परलोक से उलटा है अर्थात् जिसमें असत्यविद्या से परमेश्वर विमुख होने के कारण दुःख विशेष भोगना होता है, वह अपरलोक कहाता है।*

(६६) क. धर्म—*जिसका स्वरूप ईश्वर की आज्ञा का यथावत् पालन, न्यायाचरण, पक्षपातरहित सर्वहित करना, सत्यभाषणादियुक्त यमनियमादि पालन करना है, जो कि प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सुपरीक्षित और वेदोक्त एवं वेदों से अविरुद्ध है, ऐसे सर्वतंत्र सिद्धान्त जिनको सदा से सब मानते आये, मानते हैं, मानेंगे, अर्थात् जो तीन काल में सबको एकसा मानने योग्य है, जिसको आप्त अर्थात् सत्यमानी सत्यवादी सत्यकारी परोपकारक पक्षपातरहित विद्वान माने, जो सृष्टि नियमों के अनुकूल हो। सब मनुष्यों के लिये यही एक मानना योग्य है।*

ख. अधर्म—जिसका स्वरूप ईश्वर की आज्ञा का यथावत् पालन न करना (=ईश्वराज्ञाभंग), अन्यायाचरण, पक्षपातसहित

* ये परिभाषायें सन्दिग्ध हैं। मेरे विचार में परलोक का अर्थ मोक्ष और अपर लोक का अर्थ जन्म-मरण के चक्र में पाना है।

अन्यायी होकर अपना ही हित करना, मिथ्याभाषणादियुक्त, विषयभोगरतता, जो कि प्रत्यक्षादि प्रमाणों से अपरीक्षित और अनार्षग्रन्थ प्रोक्त (= अवैदिक) एवं अविद्या हठ अभिमान क्रूरतादि दोषयुक्त होने के कारण वेदविद्या से विरुद्ध है, जो तीन काल में एकसा मानने योग्य न हो, अविद्वान् अर्थात् दुराग्रही स्वार्थियों पाखण्डियों धूर्त्तों-मूर्खों द्वारा प्रतिपादित मत तथा जो सृष्टि नियमों के विरुद्ध है। सब मनुष्यों के लिये इनका छोड़ना योग्य है।

ग. *महापापी*—धार्मिक मनुष्य को योग्य है कि निष्प्रयोजन व अनिमन्त्रित होकर किसी सभा में कभी प्रवेश न करे और यदि प्रवेश करे तो सदा सत्य ही बोले, सत्याचरण ही करे। जो कोई सभा में अन्याय होते हुए देखकर भी मौन रहता है अथवा सत्य-न्याय के विरुद्ध बोलता है, वह महापापी होता है।

जिस सभा-समाज में अधर्म से धर्म, असत्य से सत्य सब सभासदों के देखते हुए मारा जाता है, उस सभा में सब मृतक के समान होते हैं, मानो उनमें कोई भी जीवित नहीं।

इसलिये प्रत्येक आर्य को निर्भय निष्पक्ष होकर सभा-समाजों में प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य वर्तना चाहिये।

अर्थ—जो धर्म ही से प्राप्त किया जाय, और जो अधर्म से सिद्ध हो, उसको अनर्थ कहते हैं।

काम—जो धर्म और अर्थ से प्राप्त किया जाय।

(६७) *त्रिविध दुःख*—आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधि-दैविक नाम से तीन प्रकार के होते हैं। शरीर और मन सम्बन्धी दुःख (व्याधि और आधि) *आध्यात्मिक* हैं, दूसरे प्राणियों से होने वाले सभी दुःख *आधिभौतिक* हैं, अतिवृष्टि अनावृष्टि भूकम्प अग्निभय अतिताप अतिशीत आदि से होने वाले सभी दुःख

न समझना अभावना कहलाता है। जैसे जड़ में चेतन और चेतन में जड़ का निश्चय करना।

(६५) क. स्वर्ग—नाम विशेष, सुख भोग और उस सुख की सामग्री का जीव को प्राप्त होना।

नरक—नाम विशेष दुःखभोग और उस दुःख की सामग्री का जीव को प्राप्त होना।

ख. परलोक—जिसमें सत्यविद्या से परमेश्वर की प्राप्ति हो और उस प्राप्ति से इस जन्म व पुनर्जन्म तथा मोक्ष में परमसुख प्राप्त होता है, उसको परलोक कहते हैं।*

अपरलोक—जो परलोक से उलटा है अर्थात् जिसमें असत्य-विद्या से परमेश्वर विमुख होने के कारण दुःख विशेष भोगना होता है, वह अपरलोक कहाता है।*

(६६) क. धर्म—जिसका स्वरूप ईश्वर की आज्ञा का यथावत् पालन, न्यायाचरण, पक्षपातरहित सर्वहित करना, सत्यभाषणादियुक्त यमनियमादि पालन करना है, जो कि प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सुपरीक्षित और वेदोक्त एवं वेदों से अविरुद्ध है, ऐसे सर्वतंत्र सिद्धान्त जिनको सदा से सब मानते आये, मानते हैं, मानेंगे, अर्थात् जो तीन काल में सबको एकसा मानने योग्य है, जिसको आप्त अर्थात् सत्यमानी सत्यवादी सत्यकारी परोपकारक पक्षपातरहित विद्वान् मानें, जो सृष्टि नियमों के अनुकूल हो। सब मनुष्यों के लिये यही एक मानना योग्य है।

ख. अधर्म—जिसका स्वरूप ईश्वर की आज्ञा का यथावत् पालन न करना (=ईश्वराज्ञाभंग), अन्यायाचरण, पक्षपातसहित

* ये परिभाषायें सन्दिग्ध हैं। मेरे विचार में परलोक का अर्थ मोक्ष और अपर लोक का अर्थ जन्म-मरण के चक्र में आना है।

अन्यायी होकर अपना ही हित करना, मिथ्याभापणादियुक्त, विषयभोगरतता, जो कि प्रत्यक्षादि प्रमाणों से अपरीक्षित और अनार्षग्रन्थ प्रोक्त (=अवैदिक) एवं अविद्या हठ अभिमान क्रूरतादि दोषयुक्त होने के कारण वेदविद्या से विरुद्ध है, जो तीन काल में एकसा मानने योग्य न हो, अविद्वान् अर्थात् दुराग्रही स्वार्थियों पाखण्डियों धूर्तों-मूर्खों द्वारा प्रतिपादित मत तथा जो सृष्टि नियमों के विरुद्ध है। सब मनुष्यों के लिये इनका छोड़ना योग्य है।

ग. *महापापी*—धार्मिक मनुष्य को योग्य है कि निष्प्रयोजन व अनिमन्त्रित होकर किसी सभा में कभी प्रवेश न करे और यदि प्रवेश करे तो सदा सत्य ही बोले, सत्याचरण ही करे। जो कोई सभा में अन्याय होते हुए देखकर भी मौन रहता है अथवा सत्य-न्याय के विरुद्ध बोलता है, वह महापापी होता है।

जिस सभा-समाज में अधर्म से धर्म, असत्य से सत्य सब सभासदों के देखते हुए मारा जाता है, उस सभा में सब मृतक के समान होते हैं, मानो उनमें कोई भी जीवित नहीं।

इसलिये प्रत्येक आर्य को निर्भय निष्पक्ष होकर सभा-समाजों में प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य वर्तना चाहिये।

अर्थ—जो धर्म ही से प्राप्त किया जाय, और जो अधर्म से सिद्ध हो, उसको अनर्थ कहते हैं।

काम—जो धर्म और अर्थ से प्राप्त किया जाय।

(६७) *त्रिविध दुःख*—आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधि-दैविक नाम से तीन प्रकार के होते हैं। शरीर और मन सम्बन्धी दुःख (व्याधि और आधि) आध्यात्मिक हैं, दूसरे प्राणियों से होने वाले सभी दुःख *आधिभौतिक* हैं, अतिवृष्टि अनावृष्टि अग्निभय अतिताप अतिशीत आदि से होने वाले सभी

आधिदैविक हैं। इन्हीं को तापत्रय व दुःखत्रय भी शास्त्रों में कहते हैं।

पाप—मनुष्य शरीर, वाणी और मन से पाप करता है। हिंसा (प्राणघात), चोरी और व्यभिचार (परस्त्रीगमन) ये तीनों *कायिक (शारीरिक)* पाप हैं, असत् प्रलाप (असम्बद्ध भाषण), कटुभाषण, चुगली करना और असत्यभाषण ये चारों *वाचिक पाप* हैं, परधन की अभीप्सा, दूसरे से द्वेष वैर करना, नास्तिकता (कर्मफल का न मानना) ये तीनों *मानसिक पाप* हैं। इस प्रकार पाप की प्रवृत्ति दशधा होती है।

मोक्ष

(६८) क. सब प्रकार के दुःखों से पूर्णतः छूटने और परमात्मा में रहते हुए सुख प्राप्त करने का नाम मुक्ति, मोक्ष, निर्वाण या शाश्वत सुख प्राप्ति है। अर्थात् मुक्तदशा में जीव सब बुरे काम जन्म-मरणादि दुःख सागर से पार हो, विविध पापों से छूट कर बन्धनरहित हो जाता है तथा सर्वव्यापक सुखस्वरूप अनन्त ईश्वर को प्राप्त होकर उसकी सृष्टि में स्वेच्छा से विचरते हुए सुख ही सुख का अनुभव करता है और नियत समय पर्यन्त इस मुक्ति सुख को भोग. जब मुक्ति में सुख की अवधि पूरी हो जाती है, तब महाकल्प के पश्चात् वहां से छूट पुन. संसार में आता है। यह मुक्ति सान्त है।*

* यह अवधि परान्तकाल तक है। इसका लेखा यह है कि तैंतालीस लाख बीस सहस्र वर्षों की एक चतुर्युगी, दो सहस्र चतुर्युगियों का एक अहोरात्र, ऐसे तीस अहोरात्रों का एक महीना, ऐसे बारह महीनों का एक वर्ष, ऐसे शतवर्षों का परान्तकाल होता है। यह ३६००० बार उत्पत्ति और प्रलय के समय जितना अत्यन्त दीर्घ समय होता है। यह मुक्ति—सुख काल ब्रह्म के एक सौ वर्ष तक होता है।

ख. सर्वविध दुःखों और सुखों को भोगने के लिये शरीर में प्रस्त होने रूप परतंत्रता का नाम बन्धन है। यह बन्धन सनिमित्त है अर्थात् अविद्यानिमित्त से है। इसकी इच्छा नहीं की जाती, पर भोगना पड़ता है। ईश्वरभिन्नोपासना, ईश्वर आज्ञा भंग, अज्ञानादि जो-जो पाप-कर्म दुःखफल करने वाले हैं, वे बन्धहेतु हैं।®

ग. मुक्तदशा में जीव का भौतिक स्थूल शरीर व

४३२००००००० वर्ष का एक ब्रह्म दिन (सृष्टि काल) और इतने ही वर्षों की ब्रह्मरात्रि (प्रलय काल) होती है। अतः आठ अरब, चौसठ, करोड़ वर्ष का एक ब्राह्म अहोरात्र होगा। और इकत्तीस खरब, दस अरब, चालीस करोड़ वर्ष का एक ब्राह्मवर्ष होता है। इस प्रकार ब्रह्म के एक सौ वर्ष इकत्तीस नील दस खरब और चालीस अरब वर्ष हुए ३११०४०००००००००। इतने सुदीर्घ समय पर्यन्त मुक्त जीव का दुःख से छूटकर मुक्ति के आनन्द में रहना क्या छोटी बात है? जैसे मरना निश्चित है तो भी जीवन का उपाय किया जाता है, वैसे ही मुक्ति से लौट कर जन्म में आना निश्चित होते हुए भी मुक्ति का उपाय करना अत्यावश्यक है।

® सब प्रकार की बाधा अर्थात् इच्छाविघात और परतन्त्रता का नाम दुःख है। इस दुःख के अत्यन्त अभाव और परमात्मा के नित्य (=निरंतर) योग करने से जो नियत काल तक परमानन्द प्राप्त होता है, उसी सुख का नाम मोक्ष है। क्योंकि दुःख पाप का फल है, सो मोक्ष को दुःखों से छूटना व पाप से छूटना कह सकते हैं, दोनों का अभिप्राय एक ही है।

जब मिथ्याज्ञान (अविद्या) नष्ट हो जाती है, तब जीव के सब दोष नष्ट हो जाते हैं। उसके पीछे प्रवृत्ति अर्थात् अधर्म, अन्याय, विषयासक्ति आदि की वासना सब दूर हो जाती है। उसके नाश होने

इन्द्रियों के गोलक उसके साथ नहीं रहते, उसके सत्यसंकल्पादि स्वाभाविक शुद्ध गुण सब रहते हैं, भौतिक संग नहीं रहता। जब सुनना चाहता है, तब श्रोत्र, स्पर्श करना चाहता है, तब त्वचा, देखने के संकल्प से चक्षु, स्वाद के निमित्त रसना, गन्ध के लिये घ्राण, संकल्प विकल्प करते समय मन, निश्चय करने के लिये बुद्धि, स्मरण करने के लिये चित्त और अहङ्कार के अर्थ अहङ्कार रूप अपनी स्वशक्ति से जीवात्मा मुक्ति में हो जाता है। उस समय संकल्प मात्र शरीर होता है। उनसे मुक्ति में वैसे ही सब आनन्द भोगता है, जैसे इन्द्रियों के गोलक द्वारा जीव स्वकार्य करता है। वह अपने सामर्थ्य से ही मुक्ति में भी आनन्द को भोगता है।

घ. मुक्ति में जीव परमेश्वर में मिल (लीन) नहीं जाता, परन्तु पृथक् रहता हुआ विज्ञान आनन्द पूर्वक ब्रह्म में स्वतंत्रता से विचरता है। अपनी सत्ता को खो नहीं बैठता। क्योंकि जो मिल जाय अर्थात् जीव का लय हो जावे तो मुक्ति का सुख कौन भोगे और मुक्ति के जितने साधन हैं, वे सब निष्फल हो जावें। वह मुक्ति तो नहीं, किन्तु जीव का प्रलय मानना चाहिये। जीव के नाश को मुक्ति समझना अशुद्ध है। @

से फिर जन्म नहीं होता। उसके न होने से दुःखों का अत्यन्त अभाव हो जाता है। दुःखों के अभाव से आनन्द ही आनन्द भोगना बाकी रह जाता है। इसी का नाम मोक्ष है।

@ 'योगाभ्यास से अणिमादि ऐश्वर्य को प्राप्त होकर, सर्वज्ञत्वादि गुणयुक्त केवल ज्ञानी जीव परमेश्वर होता है, ऐसा मानना ठीक नहीं। क्योंकि जीव चाहे जैसा साधन कर सिद्ध होवे; तो भी ईश्वर की जो स्वयं सनातन अनादि सिद्धि है, (जिसके अनन्त सिद्धियां हैं),

ङ. जीव स्वभाव से न बद्ध है और न मुक्त। जैसे इस समय जीव बद्ध मुक्त है, वैसे ही सर्वदा रहता है। बन्ध तथा मुक्ति का कभी अत्यन्त विच्छेद नहीं होता और बन्ध एवं मुक्ति सदा नहीं रहते। क्योंकि अविद्या के निमित्त से बन्ध और विद्या के, निमित्त से मोक्ष होता है। इस लिये न अत्यन्त मुक्ति और न अत्यन्त बन्धन होते हैं। अर्थात् जीव नित्यमुक्त या नित्यबद्ध नहीं है।

मुक्ति से पुनरावृत्ति

(६६) क. जीव जब निर्हेतुकभाव (निष्कामभाव या केवल कर्त्तव्य बुद्धि) से अच्छे कर्म करते-करते बहुत ऊंची अवस्था तक पहुँच जाता है, तब उसे मोक्ष मिलता है। उस समय उसका यह भौतिक शरीर नहीं रहता और वह स्वतन्त्र विचरता हुआ ईश्वर के आनन्द में ही मग्न रहता है।

ख. क्योंकि उसका स्वभाव ही कर्म करना है, इस लिये वह परान्त काल तक मुक्त दशा में रहता, पुनः माता-पिता के सम्बन्ध से साधारण मनुष्यों का शरीर धारण करता है। इस शरीर में यदि वह पुनः निर्हेतुक अच्छे कम करता है, तो फिर मुक्त हो

उसके तुल्य नहीं हो सकता। क्योंकि जीव का परम अवधि तक ज्ञान और सामर्थ्य बढ़े, तो भी वह परिमित ज्ञान और सामर्थ्य वाला ही होता है। अनन्त ज्ञान और अनन्त सामर्थ्य वाला कभी नहीं हो सकता। कोई भी योगी आज तक ईश्वरकृत सृष्टिक्रम को बदलने द्वारा न है, न हुआ और न होगा। जैसे अनादि सिद्ध परमेश्वर ने नेत्र से देखने और कानों से सुनने का निबन्धन किया है, इसको कोई भी योगी न बदल सकता है और न ऐसा स्वयं कर सकता है। जीव किसी भी दशा में ईश्वर कभी नहीं हो सकता।

इन्द्रियों के गोलक उसके साथ नहीं रहते, उसके सत्यसंकल्पा स्वाभाविक शुद्ध गुण सब रहते हैं, भौतिक संग नहीं रहता। जब सुनना चाहता है, तब श्रोत्र, स्पर्श करना चाहता है, त. त्वचा, देखने के संकल्प से चक्षु, स्वाद के निमित्त रसना, गन्ध के लिये घ्राण, संकल्प विकल्प करते समय मन, निश्चय करने के लिये बुद्धि, स्मरण करने के लिये चित्त और अहङ्कार के अर्थ अहङ्कार रूप अपनी स्वशक्ति से जीवात्मा मुक्ति में हो जाता है। उस समय संकल्प मात्र शरीर होता है। उनसे मुक्ति में वैसे ही सब आनन्द भोगता है, जैसे इन्द्रियों के गोलक द्वारा जीव स्वकार्य करता है। वह अपने सामर्थ्य से ही मुक्ति में भी आनन्द को भोगता है।

घ. मुक्ति में जीव परमेश्वर में मिल (लीन) नहीं जाता, परन्तु पृथक् रहता हुआ विज्ञान आनन्द पूर्वक ब्रह्म में स्वतंत्रता से विचरता है। अपनी सत्ता को खो नहीं बैठता। क्योंकि जो मिल जाय अर्थात् जीव का लय हो जावे तो मुक्ति का सुख कौन भोगे और मुक्ति के जितने साधन हैं, वे सब निष्फल हो जावें। वह मुक्ति तो नहीं, किन्तु जीव का प्रलय जानना चाहिये। जीव के नाश को मुक्ति समझना अशुद्ध है। ●

से फिर जन्म नहीं होता। उसके न होने से दुःखों का अत्यन्त अभाव हो जाता है। दुःखों के अभाव से आनन्द ही आनन्द भोगना बाकी रह जाता है। इसी का नाम मोक्ष है।

● 'योगाभ्यास से अणिमादि ऐश्वर्य को प्राप्त होकर, सर्वज्ञत्वादि गुणयुक्त केवल ज्ञानी जीव परमेश्वर होता है, ऐसा मानना ठीक नहीं। क्योंकि जीव चाहे जैसा साधन कर सिद्ध होवे; तो भी ईश्वर की जो स्वयं सनातन अनादि सिद्धि है, (जिसके अनन्त सिद्धियां हैं);

ङ. जीव स्वभाव से न बद्ध है और न मुक्त। जैसे इस समय जीव बद्ध मुक्त है, वैसे ही सर्वदा रहता है। बन्ध तथा मुक्ति का कभी अत्यन्त विच्छेद नहीं होता और बन्ध एवं मुक्ति सदा नहीं रहते। क्योंकि अविद्या के निमित्त से बन्ध और विद्या के निमित्त से मोक्ष होता है। इस लिये न अत्यन्त मुक्ति और न अत्यन्त बन्धन होते हैं। अर्थात् जीव नित्यमुक्त या नित्यबद्ध नहीं है।

मुक्ति से पुनरावृत्ति

(६६) क. जीव जब निर्हेतुकभाव (निष्कामभाव या केवल कर्त्तव्य बुद्धि) से अच्छे कर्म करते-करते बहुत ऊंची अवस्था तक पहुँच जाता है, तब उसे मोक्ष मिलता है। उस समय उसका यह भौतिक शरीर नहीं रहता और वह स्वतन्त्र विचरता हुआ ईश्वर के आनन्द में ही मग्न रहता है।

ख. क्योंकि उसका स्वभाव ही कर्म करना है, इस लिये वह पगन्त काल तक मुक्त दशा में रहता, पुनः माता-पिता के सम्बन्ध से साधारण मनुष्यों का शरीर धारण करता है। इस शरीर में यदि वह पुनः निर्हेतुक अच्छे कम करता है, तो फिर मुक्त हो

उसके तुल्य नहीं हो सकता। क्योंकि जीव का परम अवधि तक ज्ञान और सामर्थ्य बढ़े, तो भी वह परिमित ज्ञान और सामर्थ्य वाला ही होता है। अनन्त ज्ञान और अनन्त सामर्थ्य वाला कभी नहीं हो सकता। कोई भी योगी आज तक ईश्वरकृत सृष्टिक्रम को बदलने द्वारा न है, न हुआ और न होगा। जैसे अनादि सिद्ध परमेश्वर ने नेत्र से देखने और कानों से सुनने का निबन्धन किया है, इसको कोई भी योगी न बदल सकता है और न ऐसा स्वयं कर सकता है। जीव किसी भी दशा में ईश्वर कभी नहीं हो सकता।

जाता है और यदि सहेतुक बुरे कर्म करता है तो नीचे की योनि में चक्र आरम्भ हो जाता है।※

※ मुक्ति से पूर्व जो कर्म जीव करता है, उसके दो भेद होते हैं। १. मुक्तिदायक कर्म और २. साधारण कर्म। मुक्ति में नियतसमय तक आनन्द भोग कर जीव पुनः शेष साधारण कर्मों का फल भोगने और नवीन कर्म करने के लिये पुनः शरीर धारण करता है।

जिस जन्म के पश्चात् जीव मुक्ति को प्राप्त करता है, उस समय मुक्तिदायक कर्मों को छोड़ कर जो अन्य साधारण कर्म किये गये हैं, वे साधारण कर्म मुक्ति समय में फल नहीं दे सकते। क्योंकि प्रबल होने से मुक्तिदायक कर्म अपना (मोक्ष का आनन्द रूप) फल पूर्व भुगाते हैं। अतः मुक्तिदायक कर्मों का फल भोगने के पश्चात् इन कर्मों की प्रबलता हट जाती है। उस समय दुर्बल होने से संचित रूप में पड़े साधारण कर्म वासना रूप में फलोन्मुख हो जाते हैं और जीव को नया शरीर (मुक्ति के पश्चात्) धारण कराने में कारण हो जाते हैं।

मुक्ति से पूर्व जीव के सब कर्म फल देकर नष्ट नहीं हो जाते। दुष्ट कर्म अवश्य नष्ट हो जाते हैं; परन्तु अच्छे और सामान्य कर्म शेष रहते हैं। इन्हीं से मुक्ति के बाद जीव को पुनः जन्म ग्रहण करना होता है। अतः उनका यह शरीर (जन्म) निर्हेतुक नहीं होता, किन्तु सहेतुक (सकारण) होता है और फिर कर्मफलभोग चक्र चल पड़ता है।

महर्षि दयानन्द का यह भी मत है कि—"मुक्ति सुख भोग कर लौटा हुआ जीव सृष्टि के आरम्भ में ही जन्म ले, यह आवश्यक नहीं। मुक्ति की अवधि जब भी समाप्त होती है, तभी वह ईश्वर व्यवस्था और कर्मफलानुसार सृष्टि के बीच पुनः माता-पिता से जन्म

मुक्ति के साधन

(७०) क. इस जन्म-मरण के बंधन से छूट मुक्त (=पूर्णरूप से स्वतन्त्र) होने तथा परमानन्द की प्राप्ति का एकमात्र उपाय सदाचार पूर्ण यमनियमादियुक्त योगाभ्यास तथा ईश्वरोपासना है। अर्थात् इसके साधन "ईश्वर की स्तुतिप्रार्थनोपासना, योगाभ्यास द्वारा आत्मा और अन्तःकरण को शुद्ध बनाना, धर्मानुष्ठान एवं

लेकर संसार में आता है। अतः मुक्ति के पश्चात् जन्म धारण करना *कर्मफल भोगार्थ* ही है और लौटने वाले जीव *साधारण शरीर* पाते हैं। (देखो स० प्र० ९ म समु० व ऋग्वेदभाष्य १।२४।१-२)।

"मुक्ति से लौटे जीव अयोनिज सृष्टि में जन्म लेते हैं" ऐसा मन्तव्य अदार्शनिक है। मुक्ति से लौटे हुये जीवों का जन्म साधारण मनुष्यों का होता है, क्योंकि उनके उत्तम कर्म तो फल भुगाकर क्षीण हो चुके होते हैं। यदि वे अयोनिज सृष्टि में जन्म लेते हैं, तो वेद का प्रकाश इन पर नहीं हो सकता, क्योंकि गुण कर्म स्वभाव उत्तम नहीं होते और वे ज्ञान को हृदय में धारण करने की क्षमता नहीं रखते।

यह सम्भव है कि वेद का प्रकाश पूर्वसृष्टि में कर्मशेष जीवों और मुक्ति में जाने योग्य पवित्रात्माओं पर होता हो। क्योंकि मुक्ति को जाने के लिये सन्नद्ध ही सबसे अधिक पवित्रात्मा हो सकते हैं। अतः वे ही पवित्र वेद ज्ञान प्राप्ति (द्वार बनने) के अधिकारी हो सकते हैं; मुक्ति से लौटने वाले नहीं। मुक्त जीवों ने तो कर्म फल आनन्द भोग लिया और अब वे साधारण शरीर में आ रहे हैं; परन्तु मुक्ति को जाने वाले पवित्र जीव ज्ञान कर्म उपासना और विज्ञान से सम्पन्न होते हैं। अतः वे वेदज्ञान को ग्रहण करने में द्वार भी बन जाते हैं और पुनः मुक्त भी हो जाते हैं।

पुण्याचरण, ब्रह्मचर्य से शरीर और मन को स्वस्थ बनाना तथा विद्याप्राप्ति, तपः-स्वाध्याय द्वारा सज्ज्ञानप्राप्ति, न्याय दया सत्यादि गुणवृद्धि, आप्तविद्वानों व सत्पुरुषों का संग और उनमें श्रद्धा विश्वास, तीर्थ सेवन, * सत्यविद्या, सुविचार, पुरुषार्थ और परोपकारादि सब अच्छे कामों का करना तथा सब दुष्ट कर्मों से अलग रहना आदि हैं।"

ख. मोक्षदशा प्राप्ति के लिये अनिवार्य रूप में व्यक्तिविशेष को गुरु पैगम्बर मान उसकी पूजा, किसी पुस्तकविशेष में विश्वास करना अनावश्यक और निरर्थक है। परन्तुः—

आर्य

(७१) क. आर्यसमाज का नियमित सदस्य बनने के लिये आर्यसमाज के दश नियमों, महर्षि के ५१ मन्तव्यों में विश्वास और वेदों में वर्णित या महर्षि दयानन्द द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों को स्वीकार करते हुए तदनुकूल आचरण आवश्यक है। आर्य-समाज का सदस्य 'या आर्य' कहाता है।+

---

* जितने विद्याभ्यास, सत्संग, सुविचार, ईश्वरोपासना, धर्मानुष्ठान, सत्य का संग, ब्रह्मचर्य, जितेन्द्रियता, यमादियोगाभ्यास और विद्यादानादि पुरुषार्थ उत्तम शुभकर्म हैं, वे सब तीर्थ कहाते हैं। क्योंकि इनसे जीव दुःखसागर को तरने में समर्थ होता है। इतर जल-स्थलादि तीर्थ नहीं हैं।

+ भ्रम से आर्यसमाजी कहा जाता है।

ख. जो व्यक्ति भी इसके सिद्धान्तों को अपने 'जीवन का दर्शन' और वैदिकधर्म को अपने 'जीवन का आदर्श' मानता हो, वह 'वैदिकधर्मी या आर्य' है, चाहे वह इस समाज का नियमित सदस्य न भी हो। उसके लिये भी मुक्ति का द्वार सदा खुला है।

(७२) नमस्ते:—"मैं तुम्हारा मान करता हूँ" सब मनुष्यों में परस्पर अभिवादन का एक ही ढग 'हाथ जोड़ कर नमस्ते' करना है।

पुण्याचरण, ब्रह्मचर्य से शरीर और मन को स्वस्थ बनाना तथा विद्याप्राप्ति, तपः-स्वाध्याय द्वारा सज्ज्ञानप्राप्ति, न्याय दया सत्यादि गुणवृद्धि, आप्तविद्वानों व सत्पुरुषों का संग और उनमें श्रद्धा विश्वास, तीर्थ सेवन, ॐ सत्यविद्या, सुविचार, पुरुषार्थ और परोपकारादि सब अच्छे कामों का करना तथा सब दुष्ट कर्मों से अलग रहना आदि हैं।"

ख. मोक्षदशा प्राप्ति के लिये अनिवार्य रूप में व्यक्तिविशेष को गुरु पैगम्बर मान उसकी पूजा, किसी पुस्तकविशेष में विश्वास करना अनावश्यक और निरर्थक है। परन्तुः—

आर्य

(७१) क. आर्यसमाज का नियमित सदस्य बनने के लिये आर्यसमाज के दश नियमों, महर्षि के ५१ मन्तव्यों में विश्वास और वेदों में वर्णित या महर्षि दयानन्द द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों को स्वीकार करते हुए तदनुकूल आचरण आवश्यक है। आर्य-समाज का सदस्य 'या आर्य' कहाता है।+

ॐ जितने विद्याभ्यास, सत्संग, सुविचार, ईश्वरोपासना, धर्मानुष्ठान, सत्य का संग, ब्रह्मचर्य, जितेन्द्रियता, यमादियोगाभ्यास और विद्या-दानादि पुरुषार्थ उत्तम शुभकर्म हैं; वे सब तीर्थ कहाते हैं। क्योंकि इनसे जीव दुःखसागर को तरने में समर्थ होता है। इतर जल-स्थलादि तीर्थ नहीं हैं।

+ भ्रम से आर्यसमाजी कहा जाता है।

ख. जो व्यक्ति भी इसके सिद्धान्तों को अपने 'जीवन का दर्शन' और वैदिकधर्म को अपने 'जीवन का आदर्श' मानता है, वह 'वैदिकधर्मी या आर्य' है, चाहे वह इस समाज का नियमित सदस्य न भी हो। उसके लिये भी मुक्ति का द्वार सदा खुला है।

(७२) नमस्ते:—"मैं तुम्हारा मान करता हूँ" सब मनुष्यों में परस्पर अभिवादन का एक ही ढंग 'हाथ जोड़ कर नमस्ते' करना है।

तृतीय अध्याय

आर्यसमाज के नियम

१ सब सत्यविद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं उन सब का आदि मूल परमेश्वर है।

२ ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र, और सृष्टिकर्ता है। उसी की उपासना करनी योग्य है।

३ वेद सब सत्यविद्याओं का पुस्तक है। वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम-धर्म है।

४ सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिये।

५ सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके करने चाहियें।

६ संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।

७ सब से प्रीति पूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य वर्तना चाहिये।

८ अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिये।

९ प्रत्येक को अपनी ही उन्नति में सन्तुष्ट न रहना चाहिये, किन्तु सब की उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिये।

१० सब मनुष्यों को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने में परतन्त्र रहना चाहिये और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतन्त्र रहें।

आर्यसमाज का संगठन

शुद्ध प्रजातन्त्रप्रणालिका के आधार पर आर्यसमाज का संगठन हुआ है। इसके इस प्रजातन्त्रात्मक निर्माण को देखकर ब्रिटिशसरकार को एक बार यह भ्रम हो गया था कि यह 'धार्मिक-संस्था' नहीं, 'राजकीय-संगठन' है, जो कि ब्रिटिश-साम्राज्य को उखाड़ने के लिये संगठित हुआ है। इसके अध्यात्म सिद्धान्तों व पूजा-पाठ पद्धति को देखकर कइयों को यह भ्रम है कि यह तो 'मतसंस्था' है, इसका 'राजनीति' से कोई सम्बन्ध नहीं। दोनों भूल में हैं। जिन्होंने इसे 'राजकीय-दल' समझा, वे अन्धन्तमः में थे; परन्तु जो इसे केवल 'अध्यात्ममत-प्रचारकसंस्था समझते हैं, वे 'ततो भूय इव ते तमः' में हैं। यह तो मानव जीवन के हर पहलू पर पथप्रदर्शन करती है। इसका सदस्य बन कर मनुष्य की हर प्रकार की कामनाओं की पूर्ति होती है। यह तो इस युग की विचारधारा में आमूलचूल परिवर्तन लाने वाली एक निराली प्रगतिशील क्रान्तिकारी संस्था है। इसलिये इसको अपने-अपने स्थानों में स्थापित करना सर्वोदय में विश्वास रखने वाले प्रत्येक बुद्धिमान मानव का कर्त्तव्य है। उसका विधान नीचे लिखा जाता है —

(१) कोई भी वयः प्राप्त व्यक्ति अपना नाम लिखकर इसका नियमित सदस्य बन सकता है।

(२) कम से कम १० दस सभासदों का एक समाज होता है।

(३) सभासद् होने के लिये वर्षभर में अपनी आय का शतांश (एक सैकड़ा) चन्दे में देना पड़ता है और सदाचार से रहना पड़ता है।

(४) शतांश चन्दा न देने वाले तथा सदाचार से न रहने वाले व्यक्ति नियमित सभासदी से पृथक् कर दिये जा सकते हैं।

(५) जब एक प्रान्त में कमसे कम दस मजबूत समाजें चालू हो जाती हैं, तो ये मिलकर 'प्रान्तीय आर्यप्रतिनिधिसभा' का संगठन कर सकती है।

(६) इसमें प्रत्येक समाज द्वारा चुने हुए प्रतिनिधि जाते हैं। प्रतिनिधि भेजने का नियम यह है कि प्रति दश सभासद् या अधिक से अधिक बीस के लिये एक प्रतिनिधि भेजा जाता है।

(७) प्रत्येक समाज के प्रबन्ध के लिये अन्तरंग सभा का चुनाव होता है, जिस में प्रधान, मन्त्री, कोषाध्यक्ष, अधिकारी तथा तीन अन्तरंग सदस्य अवश्य होने चाहियें। अधिक सदस्य होने पर अधिकारियों व अन्तरंग सदस्यों की संख्या बढ़ाई जा सकती है और अधिकारियों में एक पुस्तकाध्यक्ष भी गिना जाता है। सामान्यतः दश सभासदों के हिसाब से एक प्रतिनिधि अन्तरंग सभा में लिया जाता है।

(८) इसी प्रकार प्रांतीय सभाओं में अधिकारी तथा अन्तरंग सभा का निर्माण प्रांतीयसभा के प्रबन्ध के लिये होता है।

(९) प्रत्येक समाज प्रांतीय सभा को अपनी आय का दशांश भेजती है। इसके अतिरिक्त वेद प्रचार के लिये भी कुछ देना होता है।

(१०) दशांश न देने वाली तथा आर्यसमाज के नियमों व संगठन को न मानने वाली समाज 'प्रांतीय सभा' की सदस्यता से निकाल दी जाती है और आर्यसमाज की दृष्टि से उसकी मान्यता नहीं रहती।

(११) भारत देश में तथा समस्त विश्व में समाजों का संगठन करने के लिये, समय-समय पर आर्यसमाज की नीति को स्पष्ट करने के लिये एक 'सार्वदेशिकआर्यप्रतिनिधिसभा' देहली

में है, जिसमें प्रत्येक प्रान्तीय सभाओं तथा भारतेतर देशों में सगठित आर्यसमाजों से प्रतिनिधि जाते हैं।

(१२) सार्वदेशिक-सभा से सम्बद्ध होने के लिये प्रत्येक प्रांतीय सभा को अपनी आय का पंचमांश सार्वदेशिक सभा को देना पड़ता है।

(१३) सार्वदेशिक आर्यप्रतिनिधि सभा के प्रबन्ध के लिये एक अन्तरंग सभा होती है।

(१४) प्रत्येक आर्यसमाज में प्रतिसप्ताह सब आर्यगण एकत्र होकर सत्संग करते हैं। जिसमें सन्ध्या, अग्निहोत्र, ईश्वरस्तुति-प्रार्थनोपासना, धर्मोपदेश सुनना-सुनाना और ज्ञानचर्चा करके आर्यजन अपने वैयक्तिक व सामाजिक जीवन की उन्नति के लिये क्रियात्मक साधन प्राप्त करते हैं।

(१५) आर्यसमाज के प्रचारक देश-देशान्तरों में भ्रमण कर आर्यधर्म और वैदिक सिद्धान्तों का प्रचार करते हैं।

(५) जब एक प्रान्त में कमसे कम दस मजबूत समाजें हो जाती हैं, तो वे मिलकर 'प्रान्तीय आर्यप्रतिनिधिसभा' संगठन कर सकती हैं।

(६) इसमें प्रत्येक समाज द्वारा चुने हुए प्रतिनिधि जाते प्रतिनिधि भेजने का नियम यह है कि प्रति दश समासद् अधिक से अधिक बीस के लिये एक प्रतिनिधि भेजा जाता है।

(७) प्रत्येक समाज के प्रबन्ध के लिये अन्तरग सभा का चुन होता है, जिस मे प्रधान, मन्त्री, कोपाध्यक्ष, अधिकारी तथा [illegible] अन्तरंग सदस्य अवश्य होने चाहियें। अधिक सदस्य होने पर अ[illegible] कारियों व अन्तरंग सदस्यों की सरया बढाई जा सकती है और अधिकारियों में एक पुस्तकाध्यक्ष भी गिना जाता है। सामान्यत दश समासदों के हिसाब से एक प्रतिनिधि अन्तरंग सभा में लिय जाता है।

(८) इसी प्रकार प्रान्तीय सभाओं में अधिकारी तथा अन्तरंग सभा का निर्माण प्रांतीयसभा के प्रबन्ध के लिये होता है।

(९) प्रत्येक समाज प्रांतीय सभा को अपनी आय का दशांश भेजती है। इसके अतिरिक्त वेद प्रचार के लिये भी कुछ देना होता है।

(१०) दशांश न देने वाली तथा आर्यसमाज के नियमों व सगठन को न मानने वाली समाज 'प्रांतीय सभा' की सदस्यता से निकाल दी जाती है और आर्यसमाज की दृष्टि से उसकी मान्यता नहीं रहती।

(११) भारत देश मे तथा समस्त विश्व में समाजों का संगठन करने के लिये, समय-समय पर आर्यसमाज की नीति को स्पष्ट करने के लिये एक 'सार्वदेशिकआर्यप्रतिनिधिसभा' देहली

में है, जिसमें प्रत्येक प्रान्तीय सभाओं तथा भारतेतर देशों में संगठित आर्यसमाजों से प्रतिनिधि जाते हैं।

(१२) सार्वदेशिक-सभा से सम्बद्ध होने के लिये प्रत्येक प्रांतीय सभा को अपनी आय का पंचमांश सार्वदेशिक सभा को देना पड़ता है।

(१३) सार्वदेशिक आर्यप्रतिनिधि सभा के प्रबन्ध के लिये एक अन्तरंग सभा होती है।

(१४) प्रत्येक आर्यसमाज में प्रतिसप्ताह सब आर्यगण एकत्र होकर सत्संग करते हैं। जिसमें सन्ध्या, अग्निहोत्र, ईश्वरस्तुति-प्रार्थनोपासना, धर्मोपदेश सुनना-सुनाना और ज्ञानचर्चा करके आर्यजन अपने वैयक्तिक व सामाजिक जीवन की उन्नति के लिये क्रियात्मक साधन प्राप्त करते हैं।

(१५) आर्यसमाज के प्रचारक देश-देशान्तरों में भ्रमण कर आर्यधर्म और वैदिक सिद्धान्तों का प्रचार करते हैं।

चतुर्थ अध्याय

अन्तिम निवेदन

आर्यसमाज का सन्देश, इस की दार्शनिक, सामाजिक व व्यक्तिगत उन्नति को बताने वाली विचारधारा और सर्वोदय के लिये द्विपाद्-चतुष्पाद् की स्वस्ति व शान्ति के लिये एवं सब से अभय के लिये इस का नया प्रोग्राम क्या है?...इन सबका समाधान गत पृष्ठों में दिया है।

एक शब्द में कहना चाहें तो कह सकते हैं कि इसने हिन्दू-जाति में होने वाले मतमतान्तरों का ही नहीं, अपितु संसार के समस्त मतों का दृष्टिकोण बदल दिया है। सबको बुद्धि व तर्क पूर्वक सोचने का प्रोत्साहन दिया है। साथ ही इन मतमतान्तरों को एक वर्गविशेष की बपौती से निकाल कर प्रजामात्र (=सामान्य जन) का बना दिया है, मतमतान्तरों के सिद्धान्तों को कोरा वाद-विवाद का विषय न रहने देकर सदाचरण का विषय बना दिया है, दार्शनिक तर्कों को पुस्तकों से निकाल जीवन में लागू करा दिया है। यह ऋषि दयानन्द की इस युग को सब से बड़ी देन है।

ऋषि दयानन्द ही वे सर्वप्रथम व्यक्ति हैं, जिन्होंने डङ्के की चोट कहा—"जो लोग धर्म और विज्ञान को विरोधी समझते हैं वे भूल में हैं। भारतीयदर्शन या विचारधारा का तो मूल ही "सद्बुद्धि' है। 'यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः' अर्थात्

जो युक्तिपूर्वक सत्य और असत्य की खोज करता है वही धर्म के रहस्य को समझ सकता है।''.....'इसलिये प्रत्येक मनुष्य को सत्य के ग्रहण करने और असत्य के त्यागने में सदा उद्यत रहना चाहिये।'

'धर्म' को 'मत' से भिन्न बताकर यदि दयानन्द ने दुनिया के सामने प्रकाश का मार्ग खोल दिया। 'धर्म' का मूल ब्रह्माण्ड की नियामक सर्वोच्च शक्ति ईश्वर है, मत का मूल 'व्यक्ति' है। 'धर्म' न केवल मानवजाति में चलता है, यह प्राणिमात्र में ओत प्रोत है और 'मत' एक दल विशेष के सदस्यों को ही बांधता है। धर्म में बुद्धि व श्रद्धा का रंग है, मत में अन्धविश्वास का बोलबाला है।

महर्षि ने तीसरी बात 'समन्वय' बुद्धि की बताई है। कितने भी भेद क्यों न हों, हम मनुष्य हैं, इसलिये हम को एक-दूसरे के साथ मानवबन्धुत्व का व्यवहार करना चाहिये। सब जनों को पारस्परिक व्यवहार में 'मानव' की तरह वर्तना चाहिये और प्रत्येक को अपनी उन्नति से सन्तुष्ट न रह सब की उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिये। सब प्रकार के द्वेषयुक्त पक्षपात-पूर्ण व्यवहारों से दूर रहना चाहिये। सब से प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार अर्थात् सत्यासत्य का विचार करके यथायोग्य वर्ताव करना चाहिये।

साथ ही उसने सत्य पर समझौता न करके 'यथायोग्य वर्ताव' का उपदेश दिया। 'कम्प्रोमाइजिंग' (झूठे मेल मिलाप) के स्थान पर 'रिकॉन्साइलिंग' (=सत्य समन्वय) पर जोर दिया। दो और दो चार होने पर उनको चार कहना ही सत्य है। दो और दो पांच कहने वालों को प्रसन्न करने के हेतु मध्यम मार्ग पकड़ कर दो और दो को साढे चार नहीं बताया।

के डर से छिपाया नहीं, किसी को प्रसन्न करने के हेतु बदला नहीं। सत्य पर अटल रहकर सबके साथ मानव-व्यवहार करते हुए चलने का उपदेश दिया।

भारतवर्ष के इतिहास की दृष्टि से दो अमूल्य बातें दीं। 'भारतीय' आर्य हैं, 'हिन्दू' नहीं। यह नाम पुराना नहीं, असली नहीं, विदेशियों द्वारा दिया गया है। इससे भारतवर्ष में 'हिन्दू' नाम से प्रसिद्ध समुदाय के हृदय में संचलन पैदा हुआ और अंग्रेजों के कान खड़े हो गये।

दूसरी बात यह कही कि भारतीय (आर्य या हिन्दू) इस भारत भूमि में कहीं बाहर से नहीं आये। ये ही यहां के आदि निवासी हैं। और संसार की आदिम सभ्य जाति है। भारतीयों को यह पढ़ाया जाता था कि "तुम इस देश के मूलवासी नहीं, लिहाजा यह देश तुम्हारा नहीं। तुम्हारे पूर्वज 'जाहिल जंगली असभ्य' थे। उन्होंने यहीं आकर सभ्यता का विकास किया। तुम्हारे पूर्वज 'पक्के पूरे मांसाहारी' थे, तुम्हारा वाङ्मय 'गडरियों के गीत' और तुम्हारे अन्य शास्त्रादि 'उधार के बहीखाते' हैं।" महर्षि दयानन्द ने इन विचारों का प्रमाण युक्तिपूर्वक तीव्र खण्डन किया और इससे भारतीयों के हृदय में चेतना जागी और अंग्रेजों के प्रतिनिधि चौकन्ने हो गये। भारतीयों को अपने गौरवमय इतिहास को जानने, समझने व खोजने की उत्तेजक प्रेरणा हुई, जिसके परिणाम स्वरूप भारतीयों में स्वातन्त्र्य आन्दोलन शुरू हुआ।

भारतदेश को परतन्त्रता के जाल से मुक्त कर स्वतन्त्र कराने के आन्दोलन का क्रियात्मक श्रीगणेश सर्वप्रथम महर्षि दयानन्द सरस्वती ने ही किया। सर्वप्रथम 'शिक्षासुधार' को लेकर यह

बताया कि इस देश में राज्य और राष्ट्र के व्यवहार में तथा शिक्षा के क्षेत्र में माध्यम आर्यभाषा हिंदी ही होनी चाहिये, इसलिये ऋषि ने प्रत्येक आर्यसभासद् के लिये इसका पढना आवश्यक बताया।

दूसरा सुधार वैदिक संस्कृतभाषा के पुनरुद्धार के रूप में किया

तीसरा सुधार बालकों को भारतीय संस्कृति धर्म तथा सभ्यता की शिक्षा देना है। मैकोले द्वारा संचालित शिक्षा-प्रणाली ने भारतवर्ष के नाम, रंग, रूप, ही बदल दिये थे। ... आर्यसमाज ने इसके लिये सच्चे शिक्षालय, गुरुकुलों की स्थापना की। कई स्थानों पर वदिक पाठशालायें खोलीं।

इस प्रकार शिक्षासुधार की योजना का प्रारम्भ करके समाज सुधार की ओर ध्यान दिया। समाजिक कुरीतियों की गन्दी नाली में पडी और अन्ध-विश्वासों की विषाक्त वायु में सास लेती भारतीय जाति को वहा से निकाल सामाजिक सदाचरण के सुहावने उपवन मे श्रद्धा+बुद्धि-प्रतिष्ठित सिद्धान्तों की प्राणसंजीवनी वायु में ला खडा किया, जिससे उसका क्षय रोग दूर हो गया। आर्य समाज उन सबका खण्डन करता है, जो रूढिया और मिथ्या बातें मतमतान्तवादी पाखण्डी लोगों ने अपनी स्वार्थसिद्धि के लिये प्रचलित की थीं, जिनसे जनता का दम-घुटा हुआ था। साथ ही जाति पाति की बुराइयों से सबको परिचित कराया। जिससे भारत में परस्पर भेदभाव और कलह दूर हो जाये।

यह स्पष्ट है कि—भारत में दृश्यमान जागृति का सबसे अधिक श्रेय आर्यसमाज को है। महर्षि ने अपने जगत्प्रसिद्ध ग्रंथ सत्यार्थप्रकाश में लिखा है—

"भला जब आर्यावर्त्त में उत्पन्न हुए हैं और इसी देश का,

के डर से छिपाया नहीं, किसी को प्रसन्न करने के हेतु बदला नहीं। सत्य पर अटल रहकर सबके साथ मानव-व्यवहार करते हुए चलने का उपदेश दिया।

भारतवर्ष के इतिहास की दृष्टि से दो अमूल्य बातें दीं। 'भारतीय' आर्य हैं, 'हिन्दू' नहीं। यह नाम पुराना नहीं, असली नहीं, विदेशियों द्वारा दिया गया है। इससे भारतवर्ष में 'हिन्दू' नाम से प्रसिद्ध समुदाय के हृदय में संचलन पैदा हुआ और अंग्रेजों के कान खड़े हो गये।

दूसरी बात यह कही कि भारतीय (आर्य या हिन्दू) इस भारत भूमि में कहीं बाहर से नहीं आये। ये ही यहा के आदि निवासी हैं। और संसार की आदिम सभ्य जाति है। भारतीयों को यह पढ़ाया जाता था कि "तुम इस देश के मूलवासी नहीं, लिहाजा यह देश तुम्हारा नहीं। तुम्हारे पूर्वज 'जाहिल जगली असभ्य' थे। उन्होंने यहाँ आकर सभ्यता का विकास किया। तुम्हारे पूर्वज 'पक्के पूरे मासाहारी' थे, तुम्हारा वाङ्मय 'गडरियों के गीत' और तुम्हारे अन्य शास्त्रादि 'उधार के वहीखाते' हैं।" महर्षि दयानन्द ने इन विचारों का प्रमाण युक्तिपूर्वक तीव्र खण्डन किया और इससे भारतीयों के हृदय मे चेतना जागी और अंग्रेजों के प्रतिनिधि चौकन्ने हो गये। भारतीयों को अपने गौरवमय इतिहास को जानने, समझने व खोजने की उत्तेजक प्रेरणा हुई, जिसके परिणाम स्वरूप भारतीयों मे स्वातन्त्र्य आन्दोलन शुरू हुआ।

भारतदेश को परतन्त्रता के जाल से मुक्त कर स्वतन्त्र कराने के आन्दोलन का क्रियात्मक श्रीगणेश सर्वप्रथम महर्षि दयानन्द सरस्वती ने ही किया। सर्वप्रथम 'शिक्षासुधार' को लेकर यह

बताया कि इस देश में राज्य और राष्ट्र के व्यवहार में तथा शिक्षा के क्षेत्र में माध्यम आर्यभाषा हिंदी ही होनी चाहिये, इसलिये ऋषि ने प्रत्येक आर्यसभासद् के लिये इसका पढ़ना आवश्यक बताया।

दूसरा सुधार वैदिक संस्कृतभाषा के पुनरुद्धार के रूप में किया।

तीसरा सुधार बालकों को भारतीय संस्कृति धर्म तथा सभ्यता की शिक्षा देना है। मैकॉले द्वारा संचालित शिक्षा-प्रणाली ने भारतवर्ष के नाम, रंग, रूप, ही बदल दिये थे। ......आर्यसमाज ने इसके लिये सच्चे शिक्षणालय, गुरुकुलों की स्थापना की। कई स्थानों पर वैदिक पाठशालायें खोलीं।

इस प्रकार शिक्षासुधार की योजना का प्रारम्भ करके समाज सुधार की ओर ध्यान दिया। समाजिक कुरीतियों की गन्दी नाली में पड़ी और अन्ध-विश्वासों की विषाक्त वायु में सांस लेती भारतीय जाति को वहां से निकाल सामाजिक सदाचरण के सुहावने उपवन में श्रद्धा+बुद्धि-प्रतिष्ठित सिद्धान्तों की प्राणसंजीवनी वायु में ला खड़ा किया, जिससे उसका क्षय रोग दूर हो गया। आर्य समाज उन सबका खण्डन करता है, जो रूढ़ियां और मिथ्या वाले मतमतान्त-वादी पाखण्डी लोगों ने अपनी स्वार्थसिद्धि के लिये प्रचलित की थीं, जिनसे जनता का दम-घुटा हुआ था। साथ ही जाति-पांति की बुराइयों से सबको परिचित कराया। जिससे भारत में परस्पर भेदभाव और कलह दूर हो जाये।

यह स्पष्ट है कि:—भारत में दृश्यमान जागृति का सबसे अधिक श्रेय आर्यसमाज को है। महर्षि ने अपने जगत्प्रसिद्ध ग्रंथ सत्यार्थप्रकाश में लिखा है—

"भला जब आर्यावर्त्त में उत्पन्न हुए हैं और इसी देश

अन्न जल खाया पीया, अब भी खाते पीते हैं और अपने माता-पिता-पितामहादि के मार्ग को छोड़ दूसरे विदेशी मतों पर अधिक झुक जाना, इंग्लिशभाषा पढ़के पण्डिताभिमानी होना...स्थिर और वृद्धिकारक काम क्यों हो सकता है ?"......"जिस देश के पदार्थों से अपना शरीर बना अब भी पालन होता है, आगे होगा, उसकी उन्नति तन मन धन से सब जने मिलकर प्रीति से करें।" ...."कोई कितना ही करें जो स्वदेशीय राज्य होता है वह सर्वोपरि उत्तम होता है। मतमतान्तर के आग्रह रहित और अपने पराये का पक्षपात शून्य प्रजा पर माता-पिता के समान कृपा न्याय और दया के साथ विदेशियों का राज्य भी पूर्ण सुखदायक नहीं है।"

पराधीन भारत का एकमात्र प्रतिनिधि चन जागृति का यह सन्देश महर्षि ने राष्ट्रीय कांग्रेस के जन्म से पन्द्रह वर्ष पूर्व भारतजन को दिया था. मानो आगे आने वाले राष्ट्रसंगठन की भविष्यवाणी की हो और उसे मार्ग बताया हो। यह वह समय था (१८७०-१८७५) जब कि अपने को 'भारतीय' कहना तथा 'स्वराज्य' का नाम लेना 'फांसी' की रस्सी का आह्वान था।

महर्षि दयानन्द वह व्यक्ति था, जिसने आज से अस्सी वर्ष पूर्व न केवल स्वराज्य का जयघोष किया, अपितु विश्व में 'एक-शासन' (=वर्ल्डफेडरेशन) का स्वप्न लिया।....."जब तक जीवें तब तक सदा चक्रवर्ती राज्यादि भोग से सुखी रहें और मरणान्तर भी हम सुखी ही रहें।" [आर्याभिविनय] .."परन्तु भिन्न-भिन्न भाषा, पृथक्-पृथक् शिक्षा, अलग व्यवहार का विरोध छूटना अतिदुष्कर है ! बिना इसके छूटे परस्पर का पूरा उपकार और अभिप्राय सिद्ध होना कठिन है।"

कितना गम्भीर सारगर्भित यथार्थ आदर्शवाद है! यही उस महर्षि का दूरदर्शित्व है, जिसकी छटा अब हम संसार में 'सब देशों को मिल कर सोचना चाहिये' इस रूप में देखते हैं। प्रत्येक आर्य ऋषि के इस दिव्यप्रकाश से भरा है और आर्यसमाज प्रजाहित के कार्यों में सबसे अग्रसर रहता है।

पाल रिचार्ड नामक विद्वान् ने ठीक लिखा है कि—"स्वामी दयानन्द निस्सन्देह एक ऋषि थे, उन्होंने अपने महान् भूत और भविष्य को मिला दिया। वह राष्ट्र को पुनरुज्जीवित करने वाले थे।"

अब आप विचार लें कि आर्यसमाज के सिद्धान्त और कार्य देश और मानव-जाति के लिये कितने उपयोगी हैं? यदि आप आर्यसमाज द्वारा सचालित व आयोजित काम के किसी विभाग से सहमत हैं और सर्वोदय के सिद्धान्त को मानते हैं, तो इसके साथ मिल कर देश और मानव-जाति की उन्नति में भाग लीजिये।

आर्यसमाज का क्षेत्र इतना विस्तृत है कि प्रत्येक परोपकारी मनुष्य इसमें आकर परिस्थिति एवं अपने मन के अनुकूल कार्य को चुन सकता है। यदि आपको मांसभक्षण-जीवहिंसा-मद्यपान गोवध आदि का निषेध करना है, तो आर्यसमाज से मिलकर इस बुराई को विश्व से दूर करने का प्रयत्न कीजिए।

यदि आपको देश और संसार में प्रचलित अनीति अनाचार चोरबाजारी चुभती है तो आप इसके साथ कन्धा मिलाकर धर्म और मानवसेवा के सिद्धान्तों का प्रचार कीजिए।

यदि आप नास्तिकता और अवैदिकता (=अज्ञानता) के

दुष्परिणामों को मन से समझ गए हैं, तो भी आपके कार्य के लिये यहाँ पूरा मौका है ।

यदि आप 'कुल वर्ण जाति मत' के नाम पर प्रसिद्ध उच्च-नीच के भेदों को विश्व से मिटाना चाहते हैं, तो आपको जितनी सुविधायें यहां पर मिलेंगी उतनी अन्य किसी संस्था में नहीं ।

यदि स्त्री जाति की उन्नति में आप अपनी उन्नति समझते हैं, तो भी आर्यसमाज द्वारा आप को जितना विस्तृत कार्यक्षेत्र मिलेगा, उतना अन्य स्थानों पर नहीं ।

यदि आप अनाथ निराश्रय पीडित जन की सच्ची सेवा करना चाहते हैं, तो सच्चे निष्काम सेवक साथी आपको यहीं मिलेंगे ।

यदि आप अपनी आध्यात्मिक उन्नति करना चाहते हैं, तो उसके लिये भी आर्यसमाज आपके सामने अधिक से अधिक उत्तम सामग्री और वैज्ञानिक योगपद्धति अर्पित करता है ।

जहाँ व्यक्तियों को अपने जीवन को समुन्नत और सुखी बनाने के लिए ऊपर हमने मार्ग बताया है, वहाँ भूमण्डल के समस्त राष्ट्रों को भी हम प्रेरणा करते हैं कि वे अपने-अपने राज्यों का निर्माण इन्हीं आदर्शों, नियमों व सिद्धान्तों के आधार पर बनावें, जिससे समस्त विश्व में जनकल्याण, शान्ति और सुखी जीवन की स्थापना हो सके। भारत की वर्तमान निर्बल परिस्थिति में तो ये नियम और आदेश अचूक और परम उपयोगी उपाय है ।

महर्षि का तपोबल, महर्षि का आत्मत्याग, महर्षि का धर्म और मानवप्रेम, महर्षि का अद्भुत बलिदान सब आपको पुकार-पुकार कर अभ्युदय और निःश्रेयस् के उज्ज्वल ज्योतिर्मय राजपथ

का निर्देश कर रहे हैं, जिस पर चलकर आप अमरता और शाश्वत शान्ति प्राप्त कर सकते हैं।

महर्षि के अमृतवचनों से मैं इसको समाप्त करता हूं।

"इस समय (अर्थात् अत्यन्त प्राचीन काल में) सर्व भूगोल में वेदोक्त एक मत था, उसी में सब की निष्ठा थी और एक दूसरे का सुख-दुःख, हानि-लाभ आपस में अपने समान समझते थे, तभी भूगोल में सुख था। अब तो बहुत से मतवाले होने से बहुत-सा दुःख और विरोध बढ़ गया है. इसका निवारण करना बुद्धिमानों का काम है। परमात्मा सब के मन में सत्यमत का ऐसा अंकुर डाले कि जिससे मिथ्यामत शीघ्र ही प्रलय को प्राप्त हों। इसमें सब विद्वान् लोग विचार कर विरोधभाव को छोड़ के आनन्द को बढ़ावें।"

"हे जगदीश्वर! आपके सामर्थ्य से हम लोगों में परस्पर विद्वेष अर्थात् अप्रीति न रहे, जिससे हम लोग कभी परस्पर विद्वेष न करें, किन्तु सब तन, मन, धन, विद्या इनको परस्पर सब के सुखोपकार में प्रीति से लगावें।''''' हे जगन्मङ्गलमय! सब दु.खों से''' छुडा के सब सुखों को प्राप्त करा।'''''' अच्छी प्रजा, पुत्रादि, हस्त्यश्वगवादि, उत्तम पशु, सर्वोत्कृष्ट विद्या और चक्रवर्ती राज्यादि परमैश्वर्य जो स्थिर परमसुखकारक है, उन को शीघ्र प्राप्त करा।"

"ये संक्षेप से स्वसिद्धान्त दिखला दिये हैं। इनकी विशेष व्याख्या—'सत्यार्थप्रकाश' के प्रकरण प्रकरण में तथा "ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका" आदि ग्रन्थों में'''लिखी है। अर्थात् जो जो बात सब के सामने माननीय है, उनको मानना'''जैसे सत्य बोलना सब के सामने अच्छा है और मिथ्या बोलना बुरा है, ऐसे

सिद्धान्तों को स्वीकार करता हूं। जो मतमतान्तर के परस्पर विरुद्ध झगड़े हैं, उनको मैं प्रसन्न (स्वीकार) नहीं करता। क्योंकि इन्हीं मत वालों ने अपने मतों का प्रचार कर मनुष्यों को फंसा के परस्पर शत्रु बना दिये हैं। इस बात को काट सर्व सत्य का प्रचार कर सब को ऐक्यमत में करा द्वेष छुड़ा परस्पर में दृढ़ प्रीतियुक्त करा के सब से सब को सुख लाभ पहुँचाने के लिये मेरा प्रयत्न और अभिप्राय है। सर्वशक्तिमान् परमात्मा की कृपा, सहाय और आप्तजनों की सहानुभूति से "यह सिद्धान्त सर्वत्र भूगोल में शीघ्र प्रवृत्त हो जावे।" जिससे सब लोग सहज से धर्मार्थ काम मोक्ष की सिद्धि करके सदा उन्नत और आनन्दित होते रहें। यही मेरा मुख्य प्रयोजन है।"